अर्थहीन

रघुवंश

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
कार्यालय : चन्द्रलोक, जवाहर नगर
बिक्री केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली–६

●

प्रथम संस्करण
मार्च १९६२

●

मूल्य
४·५० न पै.

●

मुद्रक
रामाकृष्णा प्रेस
कटरा नील,
दिल्ली

एक शब्द

अपने कृतित्व के बारे मे कुछ कहने की प्राय जरूरत नही होती, नही होनी चाहिए। पर यहाँ एक शब्द कहना आवश्यक लगा है। प्रस्तुत सकलन की कहानियाँ दस-बारह वर्ष पहले की है और उपन्यास 'अर्थहीन' हाल ही मे लिखा गया है। कहानियो तथा उपन्यास के भाव-बोध के स्तर मे मौलिक अन्तर है। सोचता हूँ इनको साथ प्रकाशित करना उचित नही था, पर प्रकाशक की अपनी दृष्टि और प्रकाशन की अपनी सीमाएँ होती है। और इनके बारे मे लेखक की अपनी मजबूरी है। पर अपने पाठको से यह कहने की छूट लेना चाहता हूँ कि कम-से-कम वे इस अन्तर को ध्यान मे रखे।

सकलित कहानियाँ मेरे उपन्यास 'तन्तुजाल' से पूर्व की है। इनकी तथा 'तन्तुजाल' की सवेदना के स्वर मे और एक सीमा तक उनके शिल्प मे तारतम्य देखा जा सकता है। इनमे जीवन के सहज स्तर पर सूक्ष्म सवेदन को ग्रहण करने की चेष्टा रही है। पर 'अर्थहीन' 'हरी घाटी' के बाद की कृति होने के कारण मेरे आज की भावात्मक ससक्ति की रचना है। इसमे मैने जीवन के यथार्थ को ग्रहण करने के बजाय आज के भाव-बोध के यथार्थ को अन्वेषित करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि आधुनिक सवेदन के सार्थक और निरर्थक के साथ 'अर्थहीन' तक पहुचने मे जहाँ तक जीवन का यथार्थ आ गया है, वही तक उसकी सीमा रही है।

२२-२-६२ | रघुवंश

क्रम

जिन्दगी या मौत	१
युग-पुरुष	१६
सैलाब के बाद	३०
शैतान हँसता है	४६
गुलाबाजिया	६६
जीवन का दान	८३
रिक्त स्थान	६५
विदा	११२
घाटी का दैत्य	१३०
विद्रोह की ग्रावाज	१४४

उपन्यास

ग्रर्थहीन	१६७

ज़िन्दगी या मौत

'जब जीने का अधिकार है, तो मरने पर रोक क्यो ? दुनिया क्यो रोकती है किसी को मरने से ? जब किसी के जीने का भार वह सँभालेगी नही और जब वह किसी को जीने का अधिकार देगी भी नही, तब वह मरने पर प्रतिबन्ध भी क्यो लगाती है ! जब देने का साहस हो तभी कुछ लेने की इच्छा भी करना—यही न्याय है। जीवन की प्रत्येक साँस का भार हम पर है, उसके पल-पल के बोझ को सँभालने का उत्तरदायित्व हमारा है, पर मरने का अधिकार हमारा अपना नही है। लेकिन जब जीने का दायित्व है, तो उसे अस्वीकार करने का अधिकार क्यो न हो !'

'कहते है,—कहा जाता है—जीवन हमारे अपने वश की बात नही है। वह तो धरोहर है। फिर जो हम बना नही सकते, उसका नाश कैसे करेगे ? हाँ, सच ही तो, जीवन हमारा अपना नही है। किसी ने जैसे हमको दे दिया है। फिर मरना अपने वश की बात कैसे हुई ?..... यह प्रश्न भी बेतुका है......जो किया नही जा सकता उसका करना क्या ? और उस विषय मे उत्तरदायित्व का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?'

'आखिर जिन्दगी है क्या ? कहते किसे है ? यह है क्या जो जिन्दगी हो जाता है, जीवन का इतना बडा विश्वास बन जाता है। जब मुक्ति हो, प्रकाश हो, उल्लास हो और उसके साथ ही प्रवाह हो, तब कहते है, यह जीवन है। और इसी की ज़िन्दगी होती है। फिर जब उमसन हो, अँधेरा हो, घुटन हो, और एक स्थिर पत्थर जैसी भावना ने सब कुछ रोक लिया हो, रुक गया हो सब कुछ, तब कोई कैसे कह

सकेगा—यह जिन्दगी है। यह जीवन हुआ कैसे ? यह कैसी बात है, जो नही है उसी को कहना पडेगा 'है'। हमको मौत लेकर जिन्दा रहना पडेगा, और इस सन्नाटे मे भी पुकार-पुकार कर कहना पडेगा—हम जिन्दा है, हम जिन्दा है। निश्चय ही हम नही है। वह सब कुछ जिसके साथ हम है—वह नही रहेगा, हमारा अपना कहलाने जैसा नही रहेगा। प्रत्येक हम की सज्ञा देने वाली आकाक्षा जब दुनिया से टकरा कर टूट गई होगी, जिसमे हमारा "हम" जीवित है, वह चाहना का सूत्र नष्ट हो चुका हो—और तब भी पता नही, किस शून्य को लेकर कहना होगा—हम है! हम है! यह हम होगा क्यो ? और किस लिए ? हमारे लिए जीवन अस्वीकृत है, पर फिर कैसी विचित्र बात है—जिन्दा रहना होगा—हरा रहना पडेगा, बिना रस के और बिना जीवन के। कैसी उल्टी बात है, कैसा कठोर न्याय है ?'

'आत्म-हत्या पाप है। कायरता है। लेकिन यह आत्मा ही क्या है जिसको लेकर कोई मरने का प्रश्न उठा सके ? जो है नही, उसकी हत्या कोई क्या करेगा ? जो है—आखिर उसे कोई मारेगा क्या ? फिर कायरता! जीवन के झूठे बोझ को लादे रहने जैसी क्या कायरता होगी भला ? मृत्यु के भय से आतकित होना, व्याकुल होना क्या कायरता नहीं है ? अथाह जल-राशि के शीतल प्रसार के साथ सम हो जाने मे आखिर कौन रोक लेता है ? ऊँचे शिखर से दिखाई देने वाली हरियाली मे खो जाने मे कौन बाधा पहुँचाता है ? धड-धड करती ट्रेन के उल्लास मे विलीन हो जाने मे कौन हाथ पकड लेता है—चुपचाप पीछे से आकर। जीवन की मुक्त खोज मे यह मौत-जैसी कौन चीज आकर रोक-टोक करती है—कायरता !'

धड-धड करती अप दिल्ली मेल ग्राड-कार्ड पर दौड रही है हजारीबाग रोड बहुत पीछे छूट चुका है। कम्पार्टमेंट मे युवक अपना दाहिना हाथ खिडकी पर रखे, पीछे टेक लगा कर बैठा है। उसकी दृष्टि बाहर है, पर मन का शून्य बाहर भी सब कुछ शून्य मे बदल देता

है । मन अन्दर की उलझनो मे अधिक उलझ रहा है ······जैसे किसी उत्सव के भग हो जाने पर स्थान मे उस गत कोलाहल की प्रतिध्वनि शून्य मे गूँजती रहती है । रात अधिक जा चुकी है, पर कदाचित् उसे नीद नही आ सकी है । उसकी पलको पर सध्या की धुँधली होती घनी छाया जैसी उदासी है । और विचार की रेखा पर हल्की मिटती कल्पना के चित्र मँडराते है, जैसे धूमिल क्षितिज पर धीरे-धीरे बको की पक्ति ओझल होती जा रही हो । ट्रेन पहाडी श्रेणियो के बीच के जगलो से गुजर रही है । बाहर द्वादशी का चाँद काफी ऊपर आ चुका है, और ट्रेन के पीछे साथ-साथ भागता आता है । उसके स्निग्ध, धवल प्रकाश मे हरी-भरी श्रेणियाँ काली रेखाओ मे अधिक व्यक्त हो उठी है । युवक देखता हुआ भी यह सब नही देख रहा है । मन मे चलने वाले तर्क से उत्पन्न उदासी ने सारे सौन्दर्य को जैसे ग्रस लिया हो । उसने भारी पलके बन्द कर ली । वह ऊँघने लगा ।······· '

× × ×

कलकत्ता की हलचल मे वह अभी-अभी ट्राम से उतरा है। बहुत स्पष्ट कुछ जान नही पडता । लगता है, एक बहुत चौडी सडक पर सहस-सहस लोग आ-जा रहे है । कोलाहल का भान तो होता है, पर सुनाई नही पडता । वह विकल है, जैसे किसी से अलग हो गया हो, और उसे खोजने पर भी न पा रहा हो । वह अपने आप को भूल गया है, और जिसे जानता नही, उसे खोज रहा है । एकाएक उसके सामने एक युवती आ जाती है । सकोच से दबी हुई, अपने मुख पर आधा घूँघट डाले वह खडी है । वह जीर्ण-शीर्ण और क्लात है। फिर जैसे वह अपना हाथ उसकी ओर आगे बढा देती है । युवक को लगता है, कोई बहुत धीरे से कह रहा है—"जीने के लिए !" पर अनुमान ही वह कर पाता है । उसके सामने एक कोमल सुन्दर हाथ फैला है, और वह झुँझला उठता है—"भीख, भीख ! भिखमंगो का

देश ! जब देखो, कोई-न-कोई हाथ फैला रहा है । जब देखो, कोई न कोई भीख माँग रहा है ।" क्रोध से वह युवती को देखता है । दिखा, जैसे वह कोई छाया हो । उसकी बडी-बडी आँखों पर काली, घनी बरौनियाँ झुकी हुई हैं, और उसके अधर के दाहिने किनारे पर एक कम्पन है । झुँझलाहट मे इससे अधिक वह नही देख पाता । जेब से एक सिक्का निकालकर, उसके हाथ पर फेक देता है, और आगे बढ जाता है ।······

× × ×

ट्रेन किसी पहाडी नाले के पुल पर घडघडा उठती है, और युवक की आँख खुल जाती है । उसने देखा, सामने चाँद के प्रकाश मे जगलो का समूह एक गहरी छाया मे निःश्वास के रूप मे फैला हुआ है, और यह छाया क्रमश ऊँची होती जाती है, ऊपर उठती जाती है, पहाडी के रूप मे । दूर पर, बहुत दूर पर एक ऊँची चोटी पर बादल के टुकडे इकट्ठे हो रहे है, और चाँद की किरणे उनको रुई के पहलो जैसी सफेद किये दे रही है । युवक इनको देख रहा है, पर मन मे सोचता है··· ··

'यह स्वप्न था, हाँ स्वप्न ही । लेकिन इस स्त्री को मैंने कही देखा है । यह मुझ से मिली थी । हाँ, ठीक । कल क्लाइव स्ट्रीट पर मैंने उसे एक रुपया दिया था—झुँझलाकर । मैने उसे उदारतावश दिया था ! यह मेरा स्वभाव नही है । उसके लिए यह महत्वपूर्ण नही । न जाने कितनो से माँगना पडता होगा उसे इसी प्रकार । तभी से मेरे मन को कुछ हो गया है । उस क्षण से मेरे मन मे कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है । कल तक मै उद्विग्न था, निराश था । न जाने कैसे हाहाकारी, शून्यभाव से मैं सडक-सडक पर खोज रहा था । और रास्ता कोई दिखाई ही नही देता था । कल तक यह निश्चय नही कर पाया था कि मैं हूँ क्यो, किसलिए ! लेकिन आज यह परिवर्तन जैसा क्यो लगता है ! आज मैं चल पडा हूँ, चला जा रहा हूँ, किसी नवीन स्वप्न

की खोज मे । कुछ निश्चित नही, कुछ ठीक नही कि मेरा क्या होगा, मै किधर जा रहा हूँ । पर यह लगने क्यो लगा है कि मेरा कुछ उपयोग है ! प्रयोजन है; यह विश्वास क्यो जमने लगा है कल से ! यह कहाँ से मिल गया मुझे !

ट्रेन घाटी मे दौड रही है । घनी घाटी है । घाटी का ढाल नीचे की ओर चला गया है गहरा होता, और दूसरी ओर भी ढाल नीचे को गहरा होता चला गया है । सुदूर मे यही पहाडियाँ फिर ऊँची होकर उठ गई है और ट्रेन अब ऊँचे धरातल पर दौडती चली जा रही है ।

युवक अपनी मन स्थिति मे १० वर्ष पीछे लौट जाता है · ···

वह एक ऐसे वातावरण मे है, जिसमे सुखी है, उन्मुक्त है । वह जयपुर मामा के पास कॉलेज मे पढने गया है । बडी बाते सोचने और करने का वह अभ्यस्त है । मामीजी ने एक नई मिसरानी रख ली है । उसके साथ घर के वातावरण मे कुछ अधिक जीवन आ जाता है । मिसरानी युवती हे, एक सीमा तक सुन्दरी भी । इकहरा बदन, दुर्बलता के कारण पीलापन लिये हुए गोरा रग । युवक को आज लग रहा है, जैसे यह उसका रूप-रग नही था जो आकर्षक था । उसे याद आता है, उसके नेत्रो पर घनी बरौनियो वाली भारी पलके सरल भोलेपन से झुकी रहती थी, कोमल पुष्पो से आच्छादित हरसिंगार की तरह । कभी यह आकर्षण और भी बढ जाता, जब इनमे हलका उन्माद का भाव व्यक्त हो उठता । पर यह क्षणिक भाव किसी रोष की मुद्रा की स्मृति के साथ विलीन हो जाता । उसके अधर-भाग मे एक कम्पन उन्ही क्षणो लक्षित होता, और लगता कि यह भी जैसे उसी स्मृति का अश हो । आज बहुत सोच-सोच कर ही युवक यह सब समझ पा रहा है । उन दिनो वह उससे केवल घर की एक घटना के रूप मे परिचित था······ घर मे अन्य लोग है, और वह भी है, बस !

घर के लोग उसे पडी कहते थे। कदाचित् वह इससे चिढती भी थी। पर लोग यही कहते थे और वह बुरा नही मानती थी। बच्चो मे वह प्रसन्न दीखती थी। एक दिन युवक ने भी वैसे ही पुकारा····"पंडी" और युवती ने धीरे से कहा······"आप भी पडी ही कहेगे ?" तब युवक ने सोचा था, कि यह चिढाना उसे शोभा नही देता। पर आज वह समझा है कि उसकी झुकी हुई बरौनियो मे कोई मार्मिक भाव था। तब वह उसे पुकारने लगा था 'श्यामा' कहकर, जो उसका नाम है।······

ट्रेन इस समय एक सँकरी पहाडी के बीच से दौड रही है और उसकी ध्वनि गूँज-गूँज कर प्रतिध्वनित हो उठती है। युवक का सारा ध्यान उसी ओर आकर्षित हो उठता है। घनी अँधेरी घाटी ट्रेन से टकरा-टकरा कर जैसे भूतो की तरह चीत्कार कर रही है। दस मिनट तक ऐसा ही गर्जन-तर्जन चलता ही रहा। युवक की स्मृमियाँ जैसे झक-झोर-झकझोर उठती है। उसी समय घाटी फैलने लगती है, फैलती जाती है, विस्तृत होती जाती है। और फिर नीचे की ओर ढालू होने लगती है। क्रमशः घाटी मीलो के ढाल मे फैल जाती है उसमें हरियाली अन्धकार जैसी फैली हुई है। फिर लगता है, जैसे ट्रेन आकाश के अन्धकार पर चल रही है, अन्धकार-लोक से ग्रह-नक्षत्रो के प्रकाश-लोक की ओर जा रही है।

युवक का मन पिछली स्मृतियो का प्रकाश ढूँढ रहा है।······

श्यामा को लेकर घर मे एक बात उठी थी। कहते हैं कि श्यामा ने आत्म-हत्या की थी, पर बचा ली गई। उसमे अनेक प्रश्न किये जाते। पूछने पर वह सरल भाव से मुस्करा देती। पर युवक को लगा था, जैसे उसके ओठो की फडक कौंध जाती थी। एक दिन युवक ने वैसे ही पूछ लिया था ··· "श्यामा, तुमने आखिर आत्म-हत्या क्यो की थी ?"

श्यामा की भौहे सकुचित थी। वह रुक-रुक कर धीरे-धीरे-बोली थी···
"भैयाजी, आत्म-हत्या की नही जाती। आत्म-हत्या कोई करता नही।"
और युवक आज इसमे कुछ अर्थ खोज लेना चाहता था। पर उस दिन उसने जैसे सुना ही नही, कहता गया ······"देखो श्यामा, जीवन जीवन है। प्राणी का धर्म जीवन है। मृत्यु रोग है, अपराध है, हार है। जीना ही जीवन है। उसको जीना चाहिए किसी भी तरह। और जीना जीवन का क्रम लगाये रखना है, एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, और तीसरे के बाद ······" न जाने क्या-क्या वह इसी प्रकार कहता गया था उस दिन। वह सब आज उसकी समझ मे ठीक-ठीक नही आ रहा है। उसे लगता है यह सब कहने वाला कोई दूसरा ही व्यक्ति रहा होगा। उसे लगता है, चुपचाप सुनने वाली युवती को जैसे कष्ट हुआ था। उसकी आँखो के फैले हुए भावो मे करुणा और वेदना की छाया थी। और युवक जब अपनी बातो के प्रवाह मे उसकी खुली आँखो को देख लेता, इगित की हुई लज्जावन्ती (छुईमुई) के समान वह सकुचित होकर आँखे नीची कर लेती। ऐसा एक बार हुआ, दो बार हुआ, कई बार हुआ। युवक जानता ······ वह उसे जीने के लिए प्रोत्साहित करता है। लेकिन क्यो? यह सब सोचने की फुरसत कहाँ थी! घर और बाहर व्यस्त रहने के के लिए उसके पास बहुत कुछ था।

यही नही, घर मे उसके साथ एक बात और हुई थी। उसके चरित्र को लेकर लोग अनेक प्रकार से कहते थे। उन सब का मतलब यही था, कि वह चरित्र की अच्छी नही है, उसका चरित्र उज्ज्वल नही। मामीजी उसके प्रति सदय है, इन बातो पर अधिक ध्यान नही देती, और कभी-कभी प्रतिवाद भी करती है। युवक इन सब बातो को महत्त्व नही देता। वह इन बातो की उपेक्षा करता है। साथ ही एक बार जो हो गया, चरित्र का सब कुछ हो जायगा, ऐसा मानकर वह नही चलता है। वह चरित्र के विकास मे विश्वास करता है, और व्यक्ति को मौका देने के पक्ष मे है। कभी-कभी इन्ही बातो को ध्यान में रख वह कह देता—

"श्यामा, जीवन मे चरित्र का बडा बल होता है। और मै मानता हूँ, कि चरित्र मे सब से बडी बात है .... सच ! जो है तुम्हारे पास, उसे स्वीकार करके रखो। जो नही है, उसे ठेल कर बाहर निकाल दो अपनी से। दुनिया तुम्हारे 'है' को चाहे जितना बुरा कहे, और तुम्हारे 'नही' को चाहे जितना ऊँचा माने। कहने दो उसे, मानने दो उसे ! तुम्हारा सच तुम्हारा चरित्र है।" श्यामा चुप रहती। समझती, नही भी समझती; पर उसे मौन रहना ही पसद है। ... ...

ट्रेन दौड रही है। घाटी सँकरी हो गई है और पहाडी श्रेणियाँ कुछ ही दूर पर चली गई हैं। चन्द्रमा कभी श्रेणियो मे छिप जाता है, और कभी निकल आता है। इस प्रकार प्रकृति के साथ लुका-छिपी चल रही है। और युवक को अपनी सजग तद्रा में याद आ रही है—

एक दिन वह श्यामा से कहता है—"तुम विवाह क्यों नही कर लेती, श्यामा ?" श्यामा की भृकुटी कुछ संकुचित हो जाती है, पलकें तिरछी होकर बरौनियो मे तरगित हो जाती है, और अधर फडक उठते है। आज युवक देख रहा है, उस दिन उसने सुन भर लिया था—"कही ऐसा भी हो सकता है, भइयाजी ?" उस दिन इस उत्तर से वह झुँझलाया था। लेकिन इस वाक्य का अर्थ जैसे उसके मन में आज व्यक्त होकर फैल रहा है। अपनी विवशता में युवती जैसे कहना चाहती है—"यह सब क्या सम्भव है मेरे लिए ?............ और तुम्हारा समाज क्या सम्भव होने देगा यह सब ?" पर तब वह अपनी धुन मे कहता गया था—"देखो श्यामा, अपने को धोखा देना ही सबसे सरल होता है, इस दुनिया मे। यह तुम अपने को ही धोखा दे रही हो। दुनिया तो उससे लाभ ही उठाती है। और यह सब कितना गलत है !.... ......एक बार जीवन मे कुछ हो गया, कोई घटना घटी, और फिर आगे उसी को

लेकर सब-कुछ बन्द हो गया, वही जीवन का प्रवाह रुक गया। यह भ्रम है, धोखा भी।" वह कहता ही गया, और युवती अपने मुख पर जरा-सा घूँघट निकाले, सिर झुकाये, चुपचाप सुनती रही। वह आँचल अपनी अँगुली पर लपेटती रही। युवक अपनी बात का कुछ भी प्रभाव न देखकर झुँझलाया। पर आज उसे लग रहा है कि युवती के मौन मे उसके लिए उत्तर था। वह उस मौन को समझ लेना चाहता है।

श्यामा पर उसकी कृपा भी है। उसे लगता है कि उस पर दया, कृपा करना उसका हक है। वह दया का अभिनय करता रहा। आज उसे लगता है, यह उसका अभिनय ही था। और यह श्यामा की अपनी श्रद्धा थी, जो उसे सफल बनाये थी। युवक अपने कमरे मे बैठा, किसी पुस्तक पर आँखे गडाये है। बीच मे एकाएक पुकार लेता है—"कल्याना, पानी!" आँखे पुस्तक के अक्षरो पर ही तैरती रहती है। फिर बीच मे झटके के साथ दृष्टि रुकती है, और वह पुकार उठता है—"कल्याना!" उसी समय पास से आवाज आती है—"लीजिये", उस ओर वह अपना हाथ बढा देता है। तभी ध्यान जाता है, 'अरे, यह तो पडी है।' और वह स्पर्श के सकोच मे चुपचाप आँखो की बरौनियो से शील का अभिनय करती हुई खडी है। युवक बिगड उठता है—"यह ठीक नही। जरा से काम के लिए अपना काम छोडकर आने की क्या जरूरत? मैं अपने आप ले लेता।" इसका उत्तर वह देती ही क्या! एक बार और चार बार रोकने और बिगडने पर भी वह सब रुका रुकाया नही। उत्तर मे श्यामा की निरुत्तर झुकी हुई पलको की झँपी बरौनियो को आज युवक समझने का प्रयत्न करता है। उन दिनो तो वह सब ऐसे ही चलता रहा।

धीरे-धीरे वातावरण और उन्मुक्त हुआ। हवा अधिक स्वच्छद रूप से बहने लगी। श्यामा के प्रति सभी की सहानुभूति बढती गई। वह अधिक उन्मुक्त रहती। सध्या की गोधूली मे दिशा-भ्रम से भीत खगी

को अपना बसेरे का तरु दीख गया हो। वह बच्चो के साथ खेलती रहती, और उनके बीच मूर्ख बन जाती। बच्चे इसलिए उससे प्रसन्न थे। मामीजी के पास बैठकर वह उनकी विनोदशील प्रवृत्ति का रस लेती। इस प्रकार उसका अधिक समय घर पर ही बीतता और सबसे बडी बात यह कि घरके मालिक मामाजी भी उसके प्रति सदय है। उनके मज़ाक के क्षेत्र मे परोक्ष-अपरोक्ष रूप से सब कुछ आ जाता है। इसके अतिरिक्त अपने प्रसिद्ध लापरवाह स्वभाव के विरुद्ध वे उसका हाल-चाल ले लेते है, और कभी-कभी मामीजी से उसकी सिफारिश भी कर देते है। युवक समझता है कि यह सब अच्छा है, ऐसे निराश्रित पर दया करनी ही चाहिए। बहुत-कुछ उस ओर से वह निःस्पृह भी है। जिसकी चिन्ता सभी करते हो, उसकी ओर वह ध्यान क्यो दे।......

ट्रेन घाटी के बीच से गुज़र रही है। घाटी के इस भाग मे जगल अधिक घना हो गया है। बीच-बीच मे नदी-नाले घने वृक्ष-समूह से ढंके हुए निकल जाते है, और उस क्षण गाडी धड-धड कर उठती है। फिर वे दूर तक पहाडी घाटी मे रेखा बनाते चले जाते है। आसमान पर चॉद बादलो के टुकडो मे छिप गया है, थोडी देर के लिए। और युवक एक बार यह सब देख लेता है, फिर आँखे बन्द कर अपनी कल्पना मे आ जाता है।

युवक को याद नही आता कि श्यामा कभी उन्मुक्त रूप से हँसी हो ; पर वह मुस्कराती थी। इस साधारण-सी बात पर आज उसका मन केन्द्रित हो रहा है। मामीजी के सहज विनोद पर श्यामा सरल भाव से मुस्कराती है, खगी का शिशु अपने कोमल पखो पर जैसे अपनी माँ के सामने उडान ले। आज उसे ऐसा ही भान होता है। पर श्यामा इसके अतिरिक्त भी कभी मुस्कराती है, युवक को यह याद आ रहा है। मामाजी की सहानुभूति के प्रतिदान मे भी पडी मुस्कराती है। उस दिन

यह सब घटना का रूप भर था, पर आज वह समझने का प्रयास कर रहा है। जैसे दोनो मे भेद है। लगता है, जैसे इस मुस्कान पर किसी आकर्षण का प्रतिबिम्ब पड गया हो।

फिर सब कुछ ऐसा ही चलता रहा। एकाएक किसी अस्थिरता के लक्षण व्यक्त होने लगते है। मामाजी की विनोदी प्रवृत्ति को कोई चिन्ता आ घेरती है। इसका प्रभाव अज्ञात रूप से सारे घर के वातावरण पर पडता है। इस चिन्ता की छाया मे पडी सकुचित और भयभीत हो उठती है। अब जब वह दूध या पानी आदि लेकर युवक के कमरे मे आती, तो उसकी सघन बरौनियो की ओट मे, आँखो मे छाई करुणा नीलाकाश मे बादलो की छाया जैसी झाँक जाती। आज युवक को लगता है, जैसे इस घेरा-घारी के बीच उसके मन पर भी कुछ बोझा है। पर उस दिन वह उसका कौतूहल भर था।

धीरे-धीरे मामीजी के मन का सन्देह कुछ व्यक्त हुआ। उस सन्देह के सहारे युवक ने जैसे सब-कुछ देख लिया। अब उसे सब कुछ स्पष्ट साफ लगने लगता हे। पर आज उसे अपने उसी विश्वास पर सदेह हो रहा है। उस दिन जो उसे नीलाकाश जैसा खुलापन लगता था, वह जैसे उसके अपने अहकार का जादू हो। लेकिन तब वही सत्य था। उसके मन मे युवती के प्रति भयानक उपेक्षा और भर्त्सना थी।

फिर धीरे-धीरे बात कुछ और ऊपर आई, वातावरण मे फैलती जाती है, उसके मन मे उभरती आती है। उन दिनो श्यामा उसके कमरे मे बहुत कम आती थी। मामाजी और मामीजी मे किसी बात को लेकर गहरा मत-भेद चल रहा है। एक दूसरे से स्पष्ट कोई कुछ नही कहता, पर मन का आक्रोश निकालने का अवसर निकाल लिया जाता है। ऐसे ही वातावरण मे उमसन चल रही है। वैसे युवक ऐसी बातो को महत्त्व देकर नही चलता। वह अपनी पढाई-लिखाई, मित्र-मडली को लेकर अपने-आप मे अधिक लीन रह लेता है। पर उस उमसन का

अनुभव उसे न होता हो, ऐसा नही । वह चुपचाप अपने अध्ययन के कमरे मे बैठा है । किताब खुली है, पर उसका ध्यान खिडकी के बाहर दूर मिटी-मिटी सी क्षितिज से मिली पर्वत-श्रेणियो पर है । उसी समय जैसे कमरे मे कोई चुपचाप प्रवेश करता है । उसका ध्यान हटता है । वह मुडकर देखता है, सामने श्यामा । वह सिर नीचा किये हुए खडी है, दोनो हाथो के पजो को बाँधे, चुपचाप । युवक का मन वितृष्णा से भर उठता है । वह अपने आवेश को सँभाल नही पाता—'तुम यहाँ क्यो ? क्या काम है तुम्हारा ?" कुछ देर वह बिलकुल नीरव रहती है, फिर जैसे सँभल कर कहती है—"भइयाजी, क्या तुम भी विश्वास करोगे इन सब बातो पर ?" युवक खीझ उठता है, वह क्रोधित हो जाता है—"विश्वास ! आश्चर्य है ! अब भी तुम अपना मुँह दिखा सकती हो, सामने ऊँचा मुँह करके प्रश्न कर सकती हो । बडी हिम्मत है तुम्हारी !" युवती का झुका हुआ मुख जैसे किसी झटके से उठ गया हो, जैसे उसने एकाएक गहरी साँस खीची हो, उसकी आँखो की भारी पलके कुछ अधिक खुल गई और उसके अधर फडक कर काँप गए । फिर धीरे-धीरे सिर नीचा करके, वह चली गई थी । उस दिन युवक नही देख सका । वह समझता था, उसने चोट की है और लक्ष्य ठीक है, बस । पर आज सब-कुछ बदल चुका है । वह देखता है, ध्यान से देखता है । वह समझने का प्रयास करता है ; वह युवती के मन को समझ लेना चाहता है ।

श्यामा चली गई, घर से सदा के लिए । घर के वातावरण मे धीरे-धीरे फिर सब-कुछ पूर्ववत् हो गया । न कही आकाश मे हलचल, न आन्दोलन, न कही उमडन, न गर्जन, और न उसके पूर्व की उमसन । सब-कुछ नीरस, शान्त । फिर एक दिन ड्राइग-रूम मे तीलियो पर ब्लाउज के फदे उलझाती हुई मामीजी ने, कोच का सहारा लेकर, किसी फाइल को उलटते मामाजी से कहा—"सुना तुमने, अरे वह पडी मनियारी वाले सेठ के साथ कलकत्ता चली गई । मैं कहती जो थी ।"

और मामाजी ने कोच पर अधिक भार देते हुए, कागज पर आँखे लगाये-लगाये ही कह दिया—"हाँ, सो ही तो।" और सब समाप्त हो जाता है। युवक सुन लेता है। वह सोचता है—"ठीक ही तो। बुरा क्या हुआ ! वह चली गई अपनी प्रसन्नता से, सेठ की प्रसन्नता से चली गई। फिर क्या हुआ ?" पर आज युवक उस घटना को इस सरलता से नही ले पाता है।

चाँद अब पच्छिम की ओर झुक गया है और युवक के सामने आ गया है। घाटी अधिक फैलती जा रही है। पर्वत-श्रेणियाँ भी अधिक खुलती जा रही है। जगल कम सघन होते जा रहे है। ट्रेन जैसे सघनता को पार करने के लिए ही दौडती चली जा रही है। युवक सोच लेना चाहता है—

'फिर क्या युवती और श्यामा एक ही है ! हाँ, ऐसा ही। आँखो का भाव, पलको की झपकन और ओठो की फडक वैसी ही है। फिर श्यामा को सेठ ने भी छोड दिया ! सेठ की प्रेयसी होकर, आज उसे भीख माँगने को बाध्य होना पडा है। वह इतनी पतित होकर जीती है, जीर्ण-शीर्ण वस्त्रो मे दुर्बल-जर्जर शरीर लिये, कैसी लज्जा और ग्लानि के साथ वह जी रही है। हाँ ! लेकिन फिर क्यो जीती है ! कौन बाध्य करता है उसे जीने के लिए—कौन कर सकता है ! सेठ के साथ वह थी, समाज अँगुली उठाता था। पर मैं समझता हूँ, वह सच था, और इस-लिए ठीक भी। लेकिन सेठ छोड सकता है। उसने छोड दिया। यह उससे भारी सत्य हो गया। फिर श्यामा ! वह क्या करे ! उसके लिए जो सत्य है, समाज उसे झूठ मानता है। लेकिन वह मर सकती है—उसका मार्ग खुला है। और हाँ, एक बार वह इस ओर बढी भी। पर उन दिनो उस पर समाज का ज़ोर था, समाज के बधन मे बल था। पर आज समाज ने उसे झूठ मानकर मुर्दा छोड दिया है। वह उस पर अब विचार ही नही करेगा। समाज के हिसाब मे वह आती ही नही

अब। फिर जिसने समाज मे रहकर विद्रोह किया, यह आज उससे मुक्त होकर क्यो ग्लानि, लज्जा और पतन स्वीकार करके जी रही है !'

'लेकिन ····· ·····लेकिन ········ ··' युवक जैसे कुछ रुकता है। वह विचार लेना चाहता है। याद करना चाहता है। 'उसकी गोद मे बच्चा भी तो था। बच्चा ? क्यो है वह ? शायद सेठ का हो, या किसी और का ··· किसी का नही, वह बच्चा तो श्यामा का है। श्यामा ही उसकी माँ है। शिशु कैसा सुन्दर ! हाँ, गुलाब-जैसा सुन्दर है !' वह धीरे-धीरे जैसे नीद के भारीपन से दबता जाता है। नीद उस पर छाती जाती है।··············

वह जैसे तेज चला जा रहा है। वह आगे बढता जाता है। आगे महा विस्तार मे सागर फैला है और गर्जन का घोष निकट आ रहा है। उसका मन अन्धकार से ढँक गया है, उमडन से भर गया है। सागर की ऊँची लहर आगे बढती आ रही है, और वह उसी आवेग से मिलकर एक हो जाने के लिए विकल हो रहा है। उसका सारा अस्तित्व आवेग मे बदल कर लहर से एक हो जाना चाहता है। लेकिन यह पीछे कोई आ रहा है। और उससे बचने के लिए तेज चल रहा है, भाग रहा है। पर पीछा करने वाला बिलकुल निकट है। सामने पानी का अट्टहास भी बिल्कुल पास है। वह व्याकुल हो जाता है। उसी समय जल-राशि उसे स्पर्श कर लेती है। वह अपने को छोड देता है, उसी मे। लहर ऊपर से निकल जाती है। वह बेसुध हो लाता है। क्षण भर बाद स्वस्थ होकर देखता है। लहर वापस जा रही है, लौटी जा रही है। और एक युवती उसका हाथ पकडे खडी है। वह आश्चर्य से देखता है, जैसे वह श्यामा हो— "श्यामा, तुम यहाँ ?" वह मुसकरा दी। "हाँ भैयाजी, जीवन तो जीने को है। इसमे मरने का मोह क्यो ? मृत्यु जीवन की छाया है, अन्त नही। फिर अन्त होगा कैसे ? आत्महत्या कोई करेगा

कैसे ? फिर जो नही है, वह असत्य है । उसे कोई स्वीकार क्यो करे ?" वह फिर मुस्करायी—"जीवन तो जीवन को जन्म दे सकता है ।" उसकी मुस्कान मे जैसे लज्जा झुकी हो । और युवक ने देखा—उसकी गोद मे घुँघराले बालो वाला हरसिंगार के फूल-जैसा एक शिशु है । उसके नेत्र कमल की पँखुडी जैसे बन्द है ।

ट्रेन मैदान के समतल पर चली जा रही है । चाँद छिप चुका है । सपाट स्थल पर वृक्षो के समूह की काली छाया को पार करती हुई, ट्रेन सरसर निकलती चली जा रही है । निकट के वृक्ष हर-हर करते पास से गुज़र जाते है, युवक अपने वक्ष पर हाथ रखे सो रहा है । खिडकी से निकलता हुआ प्रकाश रात्रि की निर्जनता और उसके अन्धकार से भीत ट्रेन के साथ भाग रहा है ।

अब ट्रेन स्थिर गति से चली जा रही है ।

युग-पुरुष

एक पथिक लाठी के सहारे चला जा रहा है। नगे पैर, नगे सिर। वह एक ही वस्त्र पहने भी है और ओढे भी है। वृद्ध पथिक की गति मे न-रुकने का भाव है और उसके कदमो मे जैसे किसी विश्वास की दृढता है। वह बढता जाता है—एकाएक सामने पहाडो की दुर्गम श्रेणियाँ व्यक्त हो जाती है। पथिक के पैर निरन्तर गति से चलते जाते है और श्रेणियाँ क्रमशः पास आती जाती है। और उस छाया-मूर्ति के सामने दुर्गम पहाडी श्रेणियाँ आ जाती है··· · ···लेकिन वह पग-पग बढता ही जा रहा है। पहाड की ऊँचाई के साथ एक पगडण्डी उठती जा रही है, जैसे आसमान छूने के लिए बढती जा रही हो। वृद्ध उसी गति से ऊपर उठता जा रहा है। शाल के जगलो से भरी घाटियो के ऊपर वह पगडण्डी चढता जा रही है··· और धीरे-धीरे घाटियो मे आकाश स्वय उतरने लगता है, पर पगडण्डी का पथिक ऊपर ही बढता जाता है···· और पगडण्डी आकाश मे उठती जा रही है। ऊँचाई के साथ गर्मी कम होती जा रही है और दोनो ओर के उठते हुए पहाडी ढालो पर बाझ का जगल घना होकर फैल गया है। रास्ते मे अनेक झाडियाँ उलझी हुई है, पर पगडण्डी का जैसे न अन्त है और न पथिक की गति का कोई निर्दिष्ट स्थान ही।

पगडण्डी उठती ही जाती है। अब पहाडी श्रेणी की ऊँचाई सात हजार से भी अधिक हो गई है। और रास्ते मे खडे हुए बाझ हँस कर तथा देवदार झूम कर पूछते है—पथिक, तुम इधर कहाँ चले? पर पथिक अपनी छाया को अपनी मुस्कान से उद्भासित करता हुआ लाठी के सहारे उसी प्रकार आगे बढता जाता है। ········· फिर पगडण्डी एक शिखर पर चढ़कर एक ओर मुडती है और एकाएक न जाने कहाँ

गायब हो जाती है। पथिक कुछ क्षण खडा रहता है और फिर एक ऊँची शिला पर बैठ जाता है। देखता है—सामने अनन्त तक फैली हुई पर्वत की श्रृंखलाएँ है·· ··· आगे इसी प्रकार न जाने कितने शिखर फैले हुए है। फिर पीछे मुडकर एक दृष्टि डालता है ······ ··अनन्त ढाल के प्रसार मे जैसे हाहाकार करता हुआ एक प्रदेश दिखाई पडता है। इसी को छोडकर तो वह चला जा रहा है। यह हाहाकार उसके मन को अब भी भरे हुए है। वैसे चारो ओर नीरव शान्ति है। एक पक्षी तक वहाँ नही बोल रहा है, झीगुर भी वहाँ नही झनकार रहे है। विकल होकर उसने अपना मुँह फेर लिया—उसे लग रहा है जैसे उसका कोई पीछा कर रहा था और वही व्यक्ति यहाँ भी आ गया है। सामने की श्रृंखलाओ के विस्तार को नापते हुए उसने समझ लिया कि उसका पीछा करने वाली उसकी अपनी परछाही थी और सुनाई देने वाली उसकी अपनी पदचाप थी। बुढापे की काया मे शक्ति और साहस की अभिव्यक्ति के साथ न जाने कैसी उदासी पीडा की छाया के रूप में विकल हो उठी है। निराशा की अदृश्य निःश्वास के साथ उसके मन मे विचार-क्रम चलने लगा—

'दुनिया—उसका क्रम कैसा विचित्र है! आखिर इसके अस्तित्व का विधान है क्या! इसके निर्माण के तत्त्वो मे कौन-सा निश्चित सिद्धान्त है जिसको जीवन खोजकर भी नही पा सका है। और जीवन की वह कौन व्याख्या है जिसे मानव आज भी नही कर पाया है! फिर मै—मैने सत्य की खोज की, जीवन भर मैने उसी की उपासना की। मैने मानव-जीवन के सत्य की सामाजिक आधार पर अहिंसा के रूप मे व्याख्या की। पर यह हुआ क्या? देश को, ससार को मै क्या दे सका? मानव समाज तो उसी गति से चल रहा है। सत्य क्या कभी जीवन के सामने प्रत्यक्ष नही होता? · ···लेकिन मेरा मन·······कही यह मेरे मन का धोखा तो नही रहा है। मेरी साधना मे कही आत्म-प्रवचना के कीट तो नही घुसे हुए थे! आखिर यह संसार मे इतना

सघन क्या फैला हुआ है जिसको जीवन के सत्य का प्रकाश भी नही बेध पाता ! आह , अहिंसा की साधना का इतना बडा हिंसा का वरदान ! मानव के इस कलक को, पाप को क्या सिधु, गगा और ब्रह्मपुत्र तीनो मिलकर भी धो सकेंगी ?'

पथिक मौन बैठा है। वातावरण नीरव है। दृष्टि हरी-भरी गहरी घाटियो मे जाकर, उठती हुई शृ खलाओ के सहारे दूर की हिमश्रेणी पर रुक जाती है। लेकिन उसका मन रुकता नही, आगे बढ जाता है। आगे बढकर यह शायद पीछे ही लौटता है। सामने कल्पना मे खेत, गॉव, नगर, ऊँचे-ऊँचे भवन, बडे-बडे बाजार, भरी हुई सडके, ऊँची-ऊँची चिमनियाँ, गन्दी-गन्दी बस्तियाँ—और इन सबके ऊपर उठता हुआ भीषण कोलाहल तथा हाहाकार उसके मन को भर देता है। घबराकर वह आँखे बन्द कर लेता है।

'यह सब है क्या ! मै यहाँ बिलकुल अकेला आया हूँ। लेकिन इस निर्जन एकान्त मे भी मेरा मन उन्ही दृश्यो और घटनाओ से भरा हुआ है ·· और लगता है आज मैं बिल्कुल अकेला हूँ। मै कितना अकेला हूँ। इतना अकेलापन तो धर्मराज को भी अपने रास्ते मे नही झेलना पडा था ······उनके साथ कोई साथी तो था। और मै यहाँ तक अकेला आ गया हूँ—साथ कोई न आ सका, किसी ने किंचित् ऊँचाई तक भी साथ नही दिया।' बूढे पथिक के मुख पर न जाने कैसी विषाद की रेखाएँ उभर आती है।

उसी समय उसे लगता है, कोई पग-चाप आ रही हो। जान पडता है जैसे कोई उसी पगडण्डी पर पास ही चढता आ रहा हो। वह आँखे खोल कर देखता है—सामने सफेद दाढी-मूँछो वाला एक वृद्ध पुरुष खडा है। उसका बहुत लम्बा आकार काले कपडे के लम्बे चोगे से ढका है। उसके गौर वर्ण पर काला वस्त्र तथा श्वेत दाढी उसे अधिक भव्य बना

रहे है। उसकी आँखो मे अद्भुत चमक थी। मुख की गम्भीरता मे न जाने कितने अनुभवो का इतिहास छिपा हो मानो। वह चुपचाप पथिक के पास बैठ गया। पथिक आश्चर्य से देख रहा था, वह अभिवादन भी न कर सका। आगन्तुक वृद्ध ने हँसते हुए कहा, उसकी हँसी मे बच्चो पर बूढो के हँसने का भाव था—"युवक, तुम मुझे देख कर आश्चर्य करते हो" श्वेत वृद्ध कहता जाता है—"मै तुम्हे युवक कहता हूँ, इस पर तुमको आश्चर्य है। अरे, मेरे सामने तुम युवक भी नही, बच्चे हो। मै सहस्रो वर्षों से ·····।" वह कुछ रुका, पथिक ने देखा उसके मुख पर मानव-इतिहास के सहस्रो वर्षो के चिह्न व्यजित है। उसने फिर कहना आरम्भ किया · "तुम सोचते हो मै तुम्हारे साथ यहाँ कैसे आ गया हूँ। मै तो तुम्हारे साथ सदा रहा हूँ। पर न तुमने मुझे कभी पहचानने का प्रयास किया और न कभी मेरी बात सुनने की जरूरत समझी। मैने हमेशा तुम्हे सचेष्ट करने की कोशिश की, पर तुमने मेरी ओर कभी ध्यान नही दिया। आज तक तुम अपनी पूजा मे सलग्न थे··· हाँ, अपने सत्य की पूजा मे, और अपने सत्य के माध्यम से तुमने अपने विचारो की, अपनी भावनाओ की ही पूजा की है।"

पथिक जैस चौका ····"अपनी पूजा ! मेरा अपना सत्य ! क्या कहना चाहते ह। आपका अर्थ क्या है ? मैने तो जीवन भर सत्य पर चलने का प्रयत्न किया है।"

अपने अट्टहास से प्रकृति को चौकाते हुए श्वेत वृद्ध ने कहा · ··· "मै यही कह रहा था युवक। तुमने सत्य की उपासना की, पर वही सत्य, जिसे तुमने जाना समझा। आखिर तुम्हारा समझना क्या तुमसे भिन्न है ?"

पथिक सयत हो चुका था, उसने आत्मविश्वास के साथ कहा · "सत्य की अनुभूति व्यक्ति को ही होगी, पर इससे क्या सत्य की व्याख्या सापेक्ष हो जायेगी ?"

वृद्ध ने समझाने की मुद्रा मे कहा··· · "हाँ, यही तो होता है।

व्यक्ति अपना सत्य······तुम स्वय ही कह चुके हो कि व्यक्ति ही सत्य का द्रष्टा है, फिर मै भी उसे व्यक्ति का अपना सत्य कहता हूँ · ··· । यह सत्य व्यक्ति संसार का सत्य मान लेता है और समझना चाहता है कि यह दुनिया को उसकी बहुत बडी देन है। इमी सत्य के लिए वह ससार को बाध्य करना चाहता है।"

"लेकिन अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठ कर।" पथिक ने तर्क देना चाहा।

"हॉ, उठ सकता है, उठता है। पर इसका अर्थ है, अपने व्यक्ति को अधिक व्यापक बना लेना। व्यक्ति टीले पर चढकर कुछ ऊँचाई से अधिक देख लेता है, पहाड पर चढकर उसकी दृष्टि की सीमा-रेखा फैली जान पडती है। पर इससे क्या आँख की शक्ति बढ जायगी, इससे क्या व्यक्तित्व का अपनापन भी कभी मिट सकता है।" वृद्ध की आँखो मे चमक थी।

थके हुए स्वर मे जैसे पथिक ने प्रश्न किया "इस प्रकार तो व्यक्ति कभी किसी व्यापक सत्य की कल्पना नही कर सकता।"

"हाँ, यही तो मैं कहता था, तुमसे इतने दिन से। पर तुमने सुना ही कहाँ !" वृद्ध की वाणी मे धैर्य की गम्भीरता थी।

"फिर तो यह भी कहना चाहिए कि दुनिया मे जितने भी सत्य के उपासक आये है, उन्होने अपने व्यक्तित्व की ही उपासना की है ?"

"मै यही कहता रहता हूँ ······ कोई सुने, चाहे न सुने। मैं तो युगो से यही कह रहा हूँ कि महापुरुष अपने आपको देखने मे इतना व्यस्त रहता है कि वह और कुछ देखता ही नही। अपने देश-काल की रेखाओ मे वह अपना सत्य निश्चित कर लेता है। और अहकारवश उसे महान बना कर घोषित करता है। इस प्रकार अपने बाद, पिछले युगो की न जाने कितनी धारणाओ को भ्रम मे डाल जाता है, साथ ही भविष्य के लिए भी भ्रम छोड जाता है। मै यही सबसे कहता रहा हूँ, क्या कोई सुनता है ! मुझे कोई देखता ही कब है !"

"तो मेरा सत्य और मेरी अहिंसा मेरा अपना भ्रम था ?"

"युगो मे फैले हुए विराट् पुरुष की दृष्टि से भ्रम ही है। हाँ, यह सत्य की उपासना तुम्हारे अहकार की सबसे बडी तृप्ति रही है। यह अपने आप युग-पुरुष रूप मे अवतरित होने वाले सभी महापुरुषो की कमजोरी है।"

"फिर मेरा सारा प्रयास, मेरी सारी आराधना मेरा अपना अहकार-मात्र था ?" थके हुए भाव से पथिक ने कहा।

"आज तुम्हारे मन की इतनी बडी निराशा का कारण भी क्या हो सकता है, क्या कभी तुमने विचार किया ? तुमने अपने सत्य की इतनी बडी अवहेलना देखी, अपने सत्य की इतनी बडी प्रतिक्रिया देखी··· 'और असफलता से तुम्हारा मन निराशा से भर गया, मै युग-युग से यही तो देखता आया हूँ, यह सभी महापुरुषो के साथ हुआ है।"

पथिक का मन न जाने कैसे-कैसे भावो से भर जाता है। फिर अनायास ही पूछ लेता है ···"लेकिन आपने युग-युग देखे है, आप ही क्यो नही सत्य का रूप निश्चित करते ?"

वृद्ध मुस्कराया··· ···"मै यही कह रहा हूँ कि सत्य का रूप निश्चित करना सबसे बडा असत्य है। मै सत्य नही मानता। मै तो सत्य-असत्य दोनो ही मान सका हूँ ········ मैने यही देखा है।" उसके मुख पर न जाने कितने युगो के छाया-प्रकाश आते-जाते है, और पथिक उनसे सिहर जाता है ··· "फिर मानवता के कल्याण का कोई रास्ता नही, क्या किसी प्रकार इसकी रक्षा नही हो सकती ?" उसने विषाद के स्वर मे पूछा।

"सबसे बडी विडम्बना तो यही है। युग के विराट् प्रवाह और देश-काल की अनन्त सीमाओ में मानव का अकिंचन अस्तित्व ही क्या है ? और उस विराट् मानव के सामने, जिसे मानव मानकर चला है, व्यक्ति

के अस्तित्व की अकिंचनता का भी कौन ठिकाना ! उसे लेकर इतना बडा अहकार पालना बच्चो जैसा आग्रह नही तो क्या है ?"

कुछ समय के लिए पथिक मौन था । श्वेत वृद्ध की आँखो से प्रकाश की अनेक तरगे निकल कर उसके मन पर बिखर रही थी । जान पडता है इन्ही तरगों से प्रकृति के रूप-रग का सारा छाया-प्रकाश निर्मित है ।

"तो मेरा सारा प्रयास व्यर्थ हुआ ?" पथिक ने एकाएक प्रश्न किया ।

'अरे भाई, यह वही महापुरुषो जैसा अहकार है । पहले अपने प्रयास की सीमाएँ नाप लो, फिर सफलता का अन्दाज सहज ही लगा सकोगे ।"

"लेकिन मैं स्वय अनुभव करता हूँ । यह तो सच है कि आज देश मे एक व्यक्ति भी मेरे आदर्श पर चलता हो, ऐसा कहना कठिन है ।"

"मैं कहता हूँ तुम्हारे सोचने का ढग जैसा शुरू मे गलत था, वैसा ही अब भी है । अब सत्य से उतर कर आदर्श पर आ गये , और उसके पीछे भी 'अपना' होने का अहकार ज्यो का त्यो बना है । क्या सोचते हो, तुम्हारा सत्य ! तुम्हारा आदर्श !"

"आप 'मै' के स्थान पर मानवता को क्यो नही लेना चाहते ।"

"फिर यह कहो कि अपनी बात इस प्रकार मानवता के गले उतारना चाहते हो । अरे भाई, बात एक ही है । यह अहकार ही मनुष्य की प्रेरणा है ।"

"मनुष्य की प्रेरणा स्वीकार कर लेने पर आप उसे गलत क्यों मानते है ?"

"मैंने कब कहा ? मै तो कहता हूँ कि तुम अपनी उस प्रेरणा को स्वीकार क्यो नही करते और अपने भ्रम को क्यो बढाते हो ?" श्वेत वृद्ध ने सहज भाव से कहा ।

"लेकिन मानव के पास जो कुछ है वह महान ही तो नही है ?" वृद्ध पथिक ने प्रवाह मे पैर जमाने-जैसा प्रयास किया।

"आदर्श से हटकर महानता पर आ गये। मै कहता हूँ, मानव न एक मात्र महान है और न एक मात्र अकिंचन ही।" श्वेत वृद्ध ने तर्क दिया।

"मै वस्तु-स्थिति की बात नही कहता। विकास के मार्ग पर विचार कर रहा हूँ।" पथिक को आधार मिला।

"और युवक, यह विकास ही क्या ऐसी निश्चित मान बैठने की चीज है ?" वह हँस पडा ; उसकी हँसी मे युग-युग के स्वर झनझना उठे। पथिक का आधार जैसे फिर छूट गया, उसके निराश और उदास मन पर उत्तेजना छा गई। उसके मन के भाव को समझ कर श्वेत वृद्ध ने उसका हाथ अपने हाथ मे लेते हुए स्नेह से कहा ·· "अच्छा चलो, मेरे साथ।"

हल्के सफेद बादलो की छाया मे श्वेत वृद्ध पथिक का हाथ पकडे खडा है। दोनो बादलो की ओट मे अदृश्य है। नीचे सिन्धु आडी-तिरछी होकर बह रही है, जैसे कोई मोटी वक्र रेखा हो। ····· उसके पास ही एक गाँव भी दिखाई देने लगता है। धीरे-धीरे बादलो पर तैरते हुए गॉव का दृश्य सामने आ जाता है।

गाँव के लोगो मे उत्तेजना है। लोग इकट्ठे हो रहे है और चारो ओर से आवाजे आ रही है· ········"ज़िन्दाबाद ···· जिन्दाबाद !" जैसे-जैसे आवाजे निकट आ रही है, दृश्य बहुत तेजी से अग्रसर हो रहे है। गॉव के घरो को चारो ओर से घेर लिया जाता है। पचासो की भीड के सामने गॉव वालो ने अपने अरक्षित घरो मे शरण ली है। क्षण भर मे दरवाजे टूट जाते हे । पुरुषो को मार दिया जाता है, स्त्रियो को अध-नगी या नगी किसी भी हालत मे बॉध लिया जाता है। फिर अबोध

बच्चो को तलवार के घाट उतार दिया जाता है, उन्हे बर्छो से उछाल दिया जाता है ।

पथिक इस दृश्य को देख सकने मे असमर्थ हो रहा है । यह सब उसके लिए असह्य है । वह दृश्य की क्रूरता से व्याकुल होकर मूर्च्छित होने लगता है । पर श्वेत वृद्ध अपने विस्तार मे उसे समेट कर कहता है··· "शात हो वत्स, देखो आगे क्या होता है । मरना-जीना तो सृष्टि का नियम है ।" श्वेत वृद्ध के स्पर्श से पथिक की चेतना वापस आती है और वह देखता है ।

एक युवक भाला लिये हुए एक घर के कोने मे सोते हुए बच्चे को देखता है । कमल की पाँखुरी के समान आँखो को बन्द किये हुए फूल-सा कोमल बच्चा अपने गुलाबी ओठो मे मुस्करा रहा है ······ न जाने किस स्वर्ग की कल्पना मे । भाला उसका उठा रहा, वह क्षण भर रुका रहा, बच्चे को देखता रहा । फिर एकाएक लौट पडता है ।

वह भीड के सामने खडा होकर ऊँचे स्वर मे कहता है······"रुक जाओ !" एकाएक सब रुक जाते है । युवक ने चिल्लाकर कहा, उसके स्वर मे दृढता थी··· ·· "अल्लाह हमको माफ नही करेगा······हमने उसके बाग को उजाडने का कुफ्र किया है । आज तुमने शैतान की मदद की है । खुदा हम पर कहर गिरायेगा । अब बचे हुओ को छोड दो, इन की औरतो की इज्ज़त अपनी बहू-बेटियो की इज्जत समझो, इनके बच्चो को अपने बच्चे समझो····· शायद खुदा माफ कर दे !"

कुछ लोगो को यह बहुत बुरा लगा । किसी ने कहा ··· "तेरा कौन-सा अल्लाह है जो काफिरो पर रहम करने को कहता है······साफ कर दो इसे भी ।"

लेकिन युवको के वर्ग मे उसकी बात का असर पडा, वे मौन और गम्भीर थे । उसके सामने बच्चे की मुस्कान फिर कौध गई···· · "मेरा अल्लाह······ वह सभी इंसानो को पैदा करने वाला है, इसानियत का

मालिक है और तुम्हारा शैतान उसका खादिम।" इस पर कुछ लोग आगे बढने को हुए। युवक ने ललकार कर कहा···· ·"जिसे आगे बढने की जुर्रत हो, उसे मेरे भाले की नोक झेलने की भी हिम्मत होनी चाहिए।" भीड के लोग शकित और भयभीत हो गए। कुछ युवक चिल्लाने लगे ·"हम तुम्हारे साथ है'·····खुदा ने सभी इसान बनाये है। हमारा रास्ता सच्चाई का है।" दम-भर मे स्त्रियाँ छोड दी गई, बचे हुए पुरुषो को भी प्राणदान मिला।

बादलो की ओट से पथिक ने देखा ······ कुछ देर बाद बिना भेद-भाव के सारा गाँव मरे पुरुषो और बच्चो के लिए मातम मना रहा है··· जैसे पहले हुआ करता था। सारा गाँव रो-चिल्ला रहा है। पथिक अपनी आँखो मे आँसू भर कर यह सब देखता है, उसके मुख से निकलता है ···"यही तो अहिसा है ······ यही सत्य है!" यह सुनकर वृद्ध पुरुष हँस पडता है और फिर बादलो के रूप मे अपने शरीर को फैलाये हल्केपन से पथिक को आच्छादित किये उड जाता है।

हल्के बादलो के नीचे गगा के तट पर एक गाँव है। उसमे जैसे कुछ हलचल हो रही है। लोग सहमे-सहमे एकत्र हो रहे है स्त्री-बच्चे सब घरो मे है। और गाँव के चारो ओर सहस्रो की भीड सारे गाँव को घेरती आती है। एकत्र लोग भी सतर्क है, पर उनको मालूम है कि जीवन के शेष क्षण अब खुदा की याद मे बिताने चाहिए। उनकी निरीह आँखो मे भय की आकुलता है · ·जीवन की इतनी असहाय स्थिति मे आत्म-रक्षा की भावना प्रबल नही हो पाती। भीड बढती जा रही है और गाँव घिरता जा रहा है। उसी समय एक सैनिक घोडा दौडाता हुआ घटना-स्थल पर आता है, उसके पीछे छः घुड-सवारो की टुकडी आ पहुँचती है। ये सैनिक अल्प-सख्यको की रक्षा के लिए नियुक्त किये गए है। नायक हाथ उठाकर गाँव के निवासियो को आश्वासन देता है···पर उनके मन का आतक उन्हें भरोसा नही देता। उमडती हुई काफिरो की

भीड और ये मुट्ठी भर सैनिक · फिर धीरे-धीरे शोर मचाती भीड पास आकर घेर लेती है ·· सैनिको को तत्पर देख कर उत्तेजना बढ जाती है। भीड उनसे हट जाने को कहती है। सैनिक सतर्क है, उन्होने बन्दूके चढा ली है, नायक भीड को हट जाने की आज्ञा देता है। भीड मे अनेक स्वर कह उठते है ···"हम नही भागेगे, हमको बदला लेना है। तुम्हारी ये गोलियाँ पडोस के देश के अपने भाइयो की रक्षा क्यो नही करती ? तुम्हे धिक्कार है !" नायक के पास खडा हुआ घुडसवार भी भुनभुनाता है ··· "हाँ, ठीक तो है · ······ वहाँ हमारे भाइयो की कौन रक्षा करता है ?"

युवक नायक गरज उठा····· "नही, ऐसा नही होगा। इन गरीबो को हम तुम्हे ऐसे नही सुपुर्द कर सकते। तुम सब पीछे हट जाओ !" भीड मे शोर आरम्भ हुआ· · "तुम खुद हट जाओ सामने से, नही तो हमको तुमसे भी निपटना पडेगा · हम बदला लेकर ही लौटेगे।"

"किससे ? इन्होने तुम्हारा क्या किया है ?" युवक नायक ने पूछा।

"इनके भाइयो ने तो किया है।" फिर शोर हुआ। युवक ने बल-पूर्वक कहा ······ "ऐसा नही हो सकता, तुम सब पीछे हट जाओ, नही हमको गोली चलानी होगी।

"तुम्हे शर्म आनी चाहिए। जिन गोलियो से हमको धमका रहे हो, उनसे पाकिस्तान को पाठ पढाते।"

"मौका आने पर हम ऐसा भी करेगे ·· हम कर्त्तव्य करते है।" उसके स्वर मे गम्भीरता थी। शोर बढता जाता है. युवक नायक क्रुद्ध होता जा रहा है। भीड की उत्तेजना सीमा पर पहुँच चुकी है—"पहले इन्ही की सही।" युवक ने तीव्र स्वर मे फिर सतर्क किया। लेकिन उधर से पत्थरो की बौछार हो रही है। सैनिक बिल्कुल तत्पर है। युवक ने अन्तिम बार कहा ····"तुम पीछे हट जाओ, नही हम फायर करेगे।"

पीछे गाँव के लोग भयभीत सारे काड को देख रहे है। उनमे बल

है · ···पर भीड की उमडती हुई उत्तेजना से उनके हाथ-पैर ठडे हो रहे है। भीड आगे बढती जा रही है, कुछ लोग लाठी घुमाते हुए गाँव वालो की ओर दौडते है। सैनिको पर पत्थर आ रहे है। युवक ने अपनी रायफल का निशाना लेते हुए आज्ञा दी, "फायर!" ठाँय-ठाँय के साथ भीड के कई व्यक्ति गिर गए। भीड की उत्तेजना और बढी ····· फिर फायर की बाढ से कुछ आदमी गिर गए। सैनिक अब तक आज्ञा मान रहे थे। लेकिन इन गिरते हुए आदमियो को देखकर उनके मन पर असर हुआ। उन्होने एक स्वर से नायक से कहा ··"हम अपने भाइयो को नही मार सकेगे।" नायक ने इस व्यवहार से उत्तेजित होकर पूछा ·· "तो तुम नायक की आज्ञा नही मानोगे ?"

"हम अपने भाइयो की अधिक हत्या नही कर सकते।" उन्होने दृढता से कहा। नायक एक क्षण विचलित हुआ, फिर उमडती भीड पर उसने स्वय गोली चलाने का उपक्रम किया। लेकिन उसके पहले एक सैनिक की गोली ने उसका वक्ष वेध दिया। वह घोडे से गिर गया; उसके जमीन पर गिरते ही भीड एक दम रुक गई, जैसे किसी अज्ञात शक्ति ने उन पर जादू फेर दिया हो। भीड के युवको ने एकाएक चिल्ला कर कहा ··· ·· "खबरदार, जो कोई आगे बढा।" भीड रुकी की रुकी रह गई, वह नही समझ सकी, अब क्या करना है। इधर सैनिको की हिंसा-वृत्ति उत्तेजित हो उठी थी, उनके मन पर आवेश छा गया था। उन्होने उलट कर गाँव के लोगो पर फायर किया, जैसे अपनी हत्या की बढी प्यास को बुझाना चाहते है। "या अल्लाह" के साथ भय और आश्चर्य से आतकित कई स्वर धराशायी हो गए। बाकी हतप्रभ थे। लेकिन उन्ही युवको ने चिल्ला कर सैनिको को रोका······ · "खबरदार! अब यदि गोली चलाई तो हमारे लट्ठ तुमको जीवित न छोडेगे।" सैनिक उनको अपने सिर पर आया जान आतकित हो जाते है। और वे चुपचाप खडे हो जाते है।

कुछ देर सब चुपचाप रहे ··· ·· जैसे सब नीरव हो····· निष्प्राण

हो; फिर वे धीरे-धीरे मौन भाव से अपने-अपने मृत व्यक्तियो को उठाकर चले जाते है, जैसे सभी कुछ अवसाद और करुणा मे डूब जाता है।

बादलो की छाया मे पथिक अधिक सह नही पाता है, वृद्ध पुरुष उसे सँभालता है। फिर एकाएक दृश्य बदल जाता है। सन्ध्या की लाली मे दो गाँवो के सिमान पर एक ओर कुछ लोग चुपचाप कफनो को दफना रहे है और दूसरी ओर कुछ लोग चिता लगा रहे है। दोनो पक्षो मे दु:ख और समवेदना समान रूप से है।

वृद्ध पुरुष और पथिक दोनो फिर शिखर की उसी शिला पर बैठे है। पथिक को लगता है, अभी कुछ क्षण वह चुप रहा है······और एक स्वप्न उसकी आँखो से गुजर गया है। दोनो घटनाएँ जैसे उसके मन मे ही घटित हुई हो। पास ही बैठा हुआ वृद्ध पुरुष पूछता है ·····"पथिक, तुम क्या सोचते हो ?"

पथिक ने सोचते हुए कहा ··· "शायद मैं यही चाहता था··· यही तो हो रहा है।"

"क्या तुम चाहते थे हिसा ?"

"यह हिसा नही है यह तो अहिसा का ही रूप है।"

"अपने को भरमाओ नही पथिक, अपने को धोखे मे मत डालो, नही तो तुम्हारे सत्य का अर्थ ही क्या रह जायगा ?"

पथिक मन मे विचार करता है ···· "सच तो है, यह अहिंसा नही है। लेकिन हिसा भी नही है।" वृद्ध पुरुष पथिक की विकलता को अनुभव करता है। वह उसका हाथ अपने हाथ मे लेकर सान्त्वना के स्वर मे कहता है, ····· "देखो भाई, यह ससार है····· सृष्टि है। यहाँ कोई सत्य नही है जो स्थिर हो। जो ऐसा नही मानता उसे अहम्मन्यता के बोझ के साथ निराशा भी सहनी पडती है। पर यहाँ प्रत्येक महापुरुष

अपने सत्य की व्याख्या करने का मोह होता है, मैने तो यही देखा है। और कैसे मजे की बात है वह जिस मानवता के लिए इतना खपता है, वह मानवता अपने नियम पर अपने आप बढती आई है, और बढती जायगी। तुम उसके अश-मात्र हो, निमित्त-मात्र हो, अपनी अभिव्यक्ति के बाद उस पथ पर वैसे ही हो, जैसे अन्य असख्य नर-नारी।"

कुछ क्षण रुक कर उसने फिर कहना शुरू किया "व्यर्थ का बोझ लेकर आगे पथ पर नही चल सकोगे पथिक! महापुरुष के इस बोझ को बिना उतारे इस घाटी मे उतरना सम्भव नही है, युगो से यही देखता आया हूँ। तुम पूछना चाहोगे · फिर मै, मै तो अनन्त काल से क्षण-क्षण मे मानवता का साक्षी बना हुआ हूँ। युग अपनी तरगो से मुझे छूते रहते है ·· पर मै बदलता नही ·· इसी प्रकार मै चलता आया हूँ ·· चलता चलूँगा।"

यह कहता हुआ श्वेत पुरुप प्रकाश-किरणो मे जैसे मिल गया ··· · दिशाओ मे फैल गया ·· वृक्षो पर लहरा उठा और पर्वत-शृ खलाओ के शून्य मे विलीन हो गया। शिखर पर पथिक अकेला है। वह सामने के कोलाहल के आभास वाले धुधले प्रदेश से दृष्टि घुमाकर दूसरी ओर देखता है। उतरती हुई, फिर चढती पर्वत-श्रेणियो की घाटी हरियाली से भरी है। सामने के शिखर बादलो से ढँके हे और घाटियो की झाँकती हुई हरियाली जैसे आकर्षण फैला रही है।

पथिक उठता है ··· ·· गहरी साँस लेकर आगे बढती हुई पगडण्डी से उस ओर की घाटी के नीचे उतरने लगता है। सामने निस्सीम प्रदेश, असख्य तुषारावृत श्रेणियाँ और उन पर बर्फ के ऊँचे शिखर है ·· · और पथिक दृढ कदमो से धीरे-धीरे नीचे उतर रहा है, आगे वढ रहा है।

सैलाब के बाद

हल्की-हल्की हिलोरो की थपकियो पर नाव धीरे-धीरे आगे बढती जा रही है। मल्लाह ने दाहिने हाथ के डॉड को रोक लिया और थोडा पीछे की ओर झुककर बाएँ हाथ को एक बार घुमा लेता है, फिर दम-एक सेकड के लिए रुक जाता है। इस प्रकार कुछ क्षणो के अन्तर से नदी की जल-राशि पर हल्की हलचल अपनी थिरकन से नाव को कुछ आगे बढा देती है। और हलचल थिरकन के किंचित् विस्तार मे जल-राशि पर फैल जाती है—फिर दूर तरगो के रूप मे जल-राशि टकराकर बिखर-बिखर जाती है। नाव का अकेला आरोही मूठ की ओर तन्मय मुद्रा मे बैठा आकाश के नीले-सफेद छायातप मे इस अभिनय को देख रहा है। नवयुवक मल्लाह अपनी सहज सरलता से इस खोये-खोये व्यक्ति को पाना चाहता है। वह गौर से इस प्रौढ व्यक्ति की ओर देख रहा है, जैसे वह उसके अन्दर छिपे किसी परिचित को पहचानना चाहता हो। और आरोही ढीला-ढीला, खोया-खोया सा जल-विस्तार के तरल अभिनय को छाया-प्रकाशो मे अनजान देख रहा है। मल्लाह कभी तो एकाएक डाँड जल्दी-जल्दी चलाने लगता है और फिर पूर्ववत् उस व्यक्ति को समझने मे व्यस्त हो जाता है।

फैले हुए सामने के वातावरण मे नौकारोही ने अपने बाह्य जगत् को ही खोया है; पर उसके मन मे बाहर से तादात्म्य स्थापित करती हुई हलचल चल रही है—

'समझ नही पाता, कोई किसी को समझने की कोशिश ही कब करता है! फिर समझना मन के हिसाब से ही तो होगा···और मनुष्य अपने को, अपनी बात को केन्द्र मे रखकर चलता है। बेचारा करे भी क्या! अपने को प्रधान अभिनेता मानकर ही वह अभिनय करता है। फिर उसको

यही लगता रहता है, वह यही सोचता रहता है कि सभी का ध्यान उसी की ओर आकर्षित है, सब दर्शक उसी की ओर आँखे लगाये है। वह अपने साथ अकिंचन पात्रो को देखे क्यो ! वे तो उसके पूरक है, इसीलिए वह उनके साथ रह लेता है, अभिनय कर लेता है।'

हवा का एक झोका पानी के तल को अधिक विक्षुब्ध कर गया, नाव थपेडो मे डगमगाकर कुछ ऊपर उठ गई—आरोही कुछ हिल गया और हवा का झोका निकल गया। उसके मन मे विचार-क्रम चल रहा है।

'और यही अभिनय हम सब जीवन मे करते है। फिर दूसरे का ध्यान रखकर कोई चलेगा भी कहाँ तक ! जीवन अपने ही जीने को कहाँ काफी है कि उसमे सभी को लेकर चला जाय—सभी को समझने का प्रयास किया जा सके। जीवन मे समझने योग्य होकर यही तो देखा है, समझा है—सभी अपने मे व्यस्त, आत्मलीन, सभी को अपनी-अपनी चिन्ता।·· लेकिन यह माया-ममता, प्यार-सम्बन्ध इसका क्या होगा ? इस अभिनय मे क्या इनका कोई स्थान नही ? इन्हे तो अस्वीकार नही किया जा सकता, ऐसा करना तो ऐसो के प्रति अविश्वास करना होगा जिनको जीवन मे बहुत कुछ मानकर चला हूँ। और अब तक मानकर चला हूँ तो आज की 'न' से वह सब बदल जायगा, यह कैसे ! उनका प्यार असत्य था, उनका उत्सर्ग झूठा था, ऐसा नही मान सकूँगा—ऐसा करना अपने को झूठा मानना है, अपने आपको अस्वीकार करने जैसा है।'

उसी समय हवा का दूसरा झोका आकर नौका को हिला गया, नीले आकाश की गुलाबी होती छाया मे पक्षियो की धुँधली होती एक रेखा आरोही के दृष्टि-पथ मे आ गई। उसके हिलकर डगमगाते हुए विचार विलीन होती काली-रेखा के सहारे आगे बढ जाते है—

'आज दुनिया कह सकती है वह सब झूठा अभिनय था—लेकिन अभिनय कल्पना को लेकर ही है। फिर जब सब अभिनय है, तब उसको

लेकर झूठ-सच क्या ? बेचारा आदमी अभिनय कर ले तो बहुत है। अभिनय को लेकर हम सच-झूठ कहते है, कहना पडता है । अभिनय की अपनी सीमाएँ है, और उनकी जब उपेक्षा होती है, अतिक्रमण होता है—तभी हम कह उठते है—यह गलत है, झूठ है । फिर वह सब क्या था जिसने दुनिया के सामने उस अभिनय को गलत साबित कर दिया ? गलत कहा जाय, झूठा समझा जाय या असफल माना जाय—बात एक ही है, किसी तरह किसी रूप मे कहकर समझ लिया जाय । अभिनय की असफलता ही उसकी गलती है, उसका झूठ है—और असफलता के पीछे कही सामजस्य का अभाव छिपा है, जिसने ही यह सब ऐसा कर· दिया है ।'

आकाश मे हलकी गुलाबी आभा घुलती जाती है। पच्छिम के विरल मेघ-खडो पर लाली मन्तिम चरण रखकर किसी अज्ञात लोक की ओर बढी जा रही है । पक्षियो के एक-दो पिछडे हुए झुड अब भी द्रुत-वेग से अपने नीडो की ओर उडे जा रहे है । मल्लाह अब तक न जाने कितनी बातो मे उलझ चुका है, पर साँझ की गहरी होकर फैलती उदासी ने जैसे उसे बोलने के लिए विवश कर दिया हो—"भइया, अब तो साँझ भई ?"

प्रौढ अपने विचारो मे चौका—"अरे, सचमुच राजू ! लेकिन आज तो दुइज है, थोडी देर मे चाँद निकल आयेगा ।"

राजू को जैसे अपने मन पर जमी हुई उदासी से त्राण मिला हो—"भइया, हमे न मालूम होगा तो किसको होगा । जुन्हैया रात मे आपको नाव पर घूमना खूब भाता है । उस दिन की याद तो हमे खूब है जब हमारी लडकाई रही...... भला बडका भइया आजकल कहाँ है ?"

आरोही ने राजू की ओर ध्यान देकर कहा—"भइया तो आजकल सहारनपुर मे है, अब तो पेंशन पाने वाले है ।" कुछ रुक कर उसे जैसे पुरानी याद आ गई हो—"हाँ राजू, उन दिनो की बात तो ऐसी ही

थी । किसे मालूम था कि इतने दिनो बाद हम फिर मिलेगे—और इस प्रकार ।—अच्छा राजू, अब तो तुम्हारा घर-द्वार होगा—तुम तो अब जवान हो गये हो ।"

राजू पहले किंचित् सकुचित हुआ फिर विषाद के स्वर मे बोला—"हाँ भइया, सब रहा—घर-द्वार, खेती-बारी । का बताई, हमारी घर-वाली भी ऐसी लक्ष्मी रही—लेकिन भइया, जब भगवान् को हमारा सुख सोहाता ! पिछली बाढ़ मे घर-द्वार और खेती-बारी तो चौपट हुई ही, घरवाली को भी भगवान ने उठा लिया । बाढ के मारे उसकी दवा-दारू नही हो सकी भइया ।" राजू ने शिथिल हाथो से डॉड थाम भर रखा है, नाव थपेडे खाकर अपने-आप ही कुछ बढ रही है । राजू के मन की वेदना धुँधली होकर फैलते अन्धकार मे मिल कर उसे उदास कर रही है ।

आरोही ने बोझिल वातावरण को कुछ सहज करते हुए कहा—"लेकिन तुम अपना घर फिर बसा सकते हो । • क्या तुम्हारी बहू बहुत सुन्दर थी, राजू ?"

वह फिर कुछ सकुचित हुआ और नि श्वास लेकर उसने कहा—"हम गँवार सुन्दर नही जानित भइया, जिससे अपना मन मिल जाय । जाति-बिरादरी के लोग बहुत पीछे है, पर भइया, अभी तो मन-माफिक कोई मिला नाही ।"

प्रौढ आरोही को युवक मल्लाह की यह बात पृथ्वी के स्पर्श-जैसी कठोर लगी । इससे टकरा कर उसका मन बिखर-बिखर कर फैल गया । उसकी आँखो के सामने नदी की धार है । धुँधले अधकार के घेरते हुए प्रसार मे नदी की धार दोनो ओर के बालुका-तटो के बीच मे स्पष्ट हो रही है । उसकी हलचल और थिरकन तम की धार मे डूब कर स्पन्दनो का आभास भर देती है—जैसे जीवन का निराश पथिक अपनी आशा की घनीहोती सध्या मे किसी अज्ञात दिशा मे बढता जा रहा हो ।

आरोही इस धूमिल श्यामल प्रवाह पर ध्यान जमाता है, उसके मन पर कुछ उभर कर आ जाता है।

नदी है, उसका प्रवाह है। अतीत और अदृश्य, पर गति का निरन्तर स्पन्दन उसके साथ चल रहा है। दिशाएँ घनी हो उठी है, प्रकृति पर निराश उदासी जमती जा रही है। नदी अनजान बह रही है—पता भी नही चलता। केवल चुपचाप नभ के विस्तार मे टिमटिमाते तारे परिचित है उसकी प्रवाहित गति से। किनारे पर फैली हुई बालुका मौन भाव से उसका स्पर्श कर रही है—पर अपने आप मे सिहर कर अँधेरे मे खोई जाती है।·· ··

और अदृश्य की काली रेखा से ये कगार खडे न जाने क्यो सरिता-प्रवाह को मौन भाव से देख रहे है। कौन-सा विषाद मौन हो उठा है इसमे, कौन-सी उदासी जड कर गई है इनमे ? यह सब देख कर जैसे प्रौढ बिना सोचे ही अनुभव कर लेता है, फिर मन की चेतना कुछ स्पष्ट क्रम ग्रहण करती है—

'जीवन मे यह कैसे हो गया ! लगता है जैसे परदे धीरे-धीरे गिरते गये है क्रम से ·····और दृश्य एक के बाद एक मौन भाव से निकलते गये, कही कोई पात्र बोला ही नही। घटनाओ के पात्रो ने ध्वनि-नाद सभी कुछ अपने-आप मे ऐसे ही पी लिया हो। उनके पास मौन अभि-नय के अतिरिक्त कुछ शेष नही रहा। और आज जो समझने जैसी अनुभूति जाग पडी है, वह उसका एक पात्र होने के कारण ही। उस मौन अभिनय का वातावरण प्रत्यक्ष-सा हो उठा है। ······और लगता है वह बडी बात न भी हो, पर एक घटना अवश्य है जिसका मैं अकिंचन साक्षी हूँ।'

घना होता अन्धकार रुक गया, जल-विस्तार और तट के कगारो की काली रेखाओ मे व्यक्त दृश्य चित्र पर मुस्कराने वाले नभ के तारे मौन हो गये। पूर्व दिशा के धुँधलेपन मे लालिमा घुल कर मिट चुकी

है। प्रकृति की स्तब्धता मे केवल डॉड कुछ क्षणो के अन्तर से छप-छप कर उठती है। आरोही के विचारो को इससे जैसे ताल मिल रही हो।

'अकिचन—हॉ अकिचन ही। जिसने जीवन मे अपने-आप को अकिचन मान लिया हो, उस जैसा निरीह होगा कौन ? आखिर आज इस अकिचनता ने घेर क्यो लिया है इस प्रकार ? किसी दिन मन का कुछ भाव क्यो न रहा हो—पर आज तो यही लगता है, अपने बडप्पन के बोझ को लादने जैसी शक्ति मुझ मे नही है—किसी से पाने जैसा पाषाणी देवत्व मुझे मिला नही, और प्यार का वरदान लेकर जीवन मे आया भी नही। फिर जीना है तो हलके-हलके अकिचन होकर ही··· देना है तो अपने को स्वीकार करके। लगता है जीवन-क्रम मे आज देने के प्रतिदान मे पाना भूल चुका हूँ। पर यह सदा नही था, दस साल पहले ऐसा ही नही था—यह सब। उन दिनो क्या ऐसा सोच पाता था ? तब पग-पग पर प्रतिदान की आकाक्षा विकल कर देती थी, देने का सुख पाने की आकुलता मे टीसने लगता था। आकाक्षा का ज्वार सहस्र-सहस्र फेनिल तरगो मे तट की ओर दौड पडता था, पर पापाणी तट से टकरा कर अपने ही हाहाकार से आन्दोलित होकर लौट जाता था। और हाथ लगता था नीरस, निर्मम, कण-कण मे बिखरी हुई बालुका का स्पर्श-मात्र।'

पूर्वी आकाश के सीमान्त पर चॉद का गोला लगभग पूरा होने वाला है—और दिशा की लालिमा चारो ओर बिखर कर हलकी आभा से सारी प्रकृति को रँग रही है। पानी की श्यामल आभा मे चाँद की छाया ने एक अजीब रगीनी उत्पन्न कर दी है—जैसे मृत्यु की नीरव उदासी मे यौवन की आकाक्षाओ की तूफानी झॉकी झलक भर गई हो। फैले हुए विस्तृत तट और खडे चले गये कगारो का झीना परदा भी जैसे हिल गया—मानो इस झॉकी मे जीवन के पिछले स्वप्न स्पन्दनशील हो रहे हो। आरोही अपने मन को बटोर रहा है—

'हॉ, फिर भी ऐसा लगता रहा है, मन मे, चरित्र मे सब परिस्थितियो

मे साधे रखने जैसा बल है। मेरा अपना जो दूसरो की सीमाओं को स्वीकार करता चला है, मेरा अपना जो दूसरो की सीमाओ को घेरता चला है, वही तो एक मात्र मेरा बल रहा है। इसी कारण अपने महत्त्व की चेतना ने, अपने को दूसरो पर लादने की भावना ने मुझे अधिक विकल नही किया। यदि अपने को आरोपित नही कर पाया किसी पर, तो अपने मे किसी को केन्द्रित रखने के लिए उद्विग्न भी नही हुआ। सब मिला कर लगता है, मैं जीवन मे अपने-आप से ठगा नही गया।······ अलग अकेला कुछ देने की स्मृति तो निधि के रूप मे बचा सका हूँ, जब देखता हूँ, दूसरी ओर जीवन का कुछ शेष रहा ही नही। सब कुछ समय के सैलाब ने·· ··।'

आरोही अपने-आप मे व्यस्त है। मल्लाह अपने-आप मे अधिक घिर नही पाता, वह किसी बात को सोचना चाहता है, किसी स्थिति की कल्पना कर लेना चाहता है। पर उठती हुई बात, घिरती हुई स्थिति बिखर-बिखर जाती है। कुछ देर उसका मन पिछली घटनाओ मे उलझा रहा—उसकी स्मृति मे कुछ क्षणो के लिए उन परिवारो का जीवन आ गया, जिनके बीच वह अपनी किशोरावस्था तक पनपा था। इन कल्पनाओ से उसका मन भर गया। फिर नदी लहर, नाव-डाँड, तट-कगार, चाँद-सितारो से भी उसकी दृष्टि अधिक उलझ नही पाती। एकाएक वह व्यग्र-सा हो जाता है, फिर कुछ रुक कर कहता है—"भइया, रिचा दीदी ठीक ही कहती रही कि तुम तो अब सचमुच साधू-सन्यासी होइ गए।"

आरोही कुछ सजग होकर सुन लेता है और मुस्कराकर कहता है—"अरे नही राजू, तुमसे यह किसने कहा ? मैं तो पहले जैसा ही हूँ।"

राजू ने सरल भाव से अपनी बात स्पष्ट की—"सूरत शकल की बात नही कहता भइया। सुना था बहुत पढ लिख गये, लेकिन नौकरी नही की और न ब्याह ही किया, सो अब देख लिया।" कुछ रुक कर

उसने कहा—"पिछले साल जब रिचा दीदी यहाँ कालिज मे बडी गुरुजी होइके आई, तभी से हम सोचत रहे कि अब सबके दरसन होई।"

प्रौढ ने अनायास ही पूछ लिया—"तुम्हारी दीदी को यहाँ कैसा लगता है, राजू ?"

राजू कुछ मुक्त हुआ—"समझ नाही पडत, तुम सबका का होइ गवा है ! भइया, तुम सब बिलकुल दूसर लागत हो—न वह हँसी-खेल, न वह सैर-सपाटा—। लेकिन यह बात का है भइया, अब दीदी तो बहुत चुप रहन लगी है—जैसेन उनका मन उतरा-उतरा रहत है।"

आरोही ने समझाने का प्रस्ताव किया—"अब हम लोग लडके नही है राजू, फिर दीदी के पास आज कल कितना काम रहता है कितनी मेहनत पडती है !" राजू ने समझना चाहा, पर उसका मन कारण पर अधिक रुक नही सका।

आरोही ने उत्तर दे दिया, पर उसे लगा, जैसे यह उत्तर नही है। वह अपने अज्ञात प्रश्न का उत्तर पाने के लिए चाँदनी मे स्पष्ट हो गए कगारो की ओर देखने लगता है। नदी के मोड पर किंचित् घेरा डालता हुआ कगार चला गया है·····अपनी ऊँचाई मे नदी के तल से दूर, नीरव, उदास फैला हुआ। कही-कही एक-आध सूखे पेडो के ठूँठ खडे है—नही तो सपाट, एकरस। कटी हुई कगार के दरारो और काटो पर चाँदनी व्यक्त होकर उनमे निराशा का अन्धकार घनीभूत कर देती है।—लेकिन सरिता के तीव्र प्रवाह और उसकी जड शान्ति मे न कही मेल है और न कोई सामजस्य है। आरोही अनुभूति की लहरो मे अपने आप उलझ जाता है—

"मुझे जो नही समझा गया, वह पीडा, वेदना और अवसाद मन की करुणा मे सिमट-सिमट कर मिट गया है। पर ···।" प्रौढ की आँखो के सामने तट और कगार का जड-उदास चित्र फिर जाता है और उसी के आधार पर ऋचा का श्रान्त और शिथिल रूप [illegible] ओझल

हो जाता है । वह आगे बढता है—"पर यह उस तरफ क्या हो गया है ? वह सब तो बडा आकर्षक था—उसमे जीवन का सजग आन्दोलन था । फिर आज यह सब क्यो चुपचाप नीरव, उदास चल रहा है । यह सब क्या हो गया है! यहाँ कौन सी भूल हो गई है ! मेरी अपनी भूल तो मेरे अपने स्वभाव की भूल है, या कहा जाय मेरे अपने अन्तर्यामी की भूल है ।—सँभल-सँभल कर चलता रहा हूँ और इसी प्रकार आज भी चला जा रहा हूँ । न सही सुख का आवेग, न सही उल्लास का ज्वार, एक तरल करुणा लेकर ही जी रहा हूँ ..... । पर आज यह ऋचा को क्या हो गया है ?" उसकी कल्पना मे ऋचा का नीरव रूप कुछ क्षण के लिए उभर आता है । अपने कॉलेज की लडकियो के बीच मे व्यस्त एक हाथ से अपनी विशृङ्खल लट को सँभालती हुई जैसे अपनी विवश उदासी को भुलाने का प्रयास कर रही हो । फिर एकाएक किसी बात मे हँस पडती है, लेकिन अपनी बिखरी हँसी को बटोर कर वह अधिक मौन हो जाती है, उदासी अधिक घनी हो उठती है । आरोही इस कल्पना के साथ तट पर दृष्टि डाल कर कगार की ओर देख लेता है । कगार की बेबसी उसे विकल कर देती है । वह सोचता है—

"ऋचा को आखिर हो क्या गया ? उसके जीवन मे यह कैसा कुहासा जम गया है, जो मेरी करुणा से भी अधिक घना गहरा हो उठा है ? उसके जीवन की धारा का गति-प्रवाह जैसे किसी जादू से मोडा गया हो । उसमे न रुदन का क्रन्दन और न हँसी का उल्लास । पर यह ऐसा ही नही था । दस साल पहले विश्वविद्यालय की बात है, उस समय ऋचा सहज उल्लास मे बढ रही थी । ईश्वर ने उसको रूप न भी दिया हो, पर भाग्य कम नही दिया था । वह देने मे उदार थी, पर साथ ही उसने पाया भी कम नही ।... फिर एकदम बदल कैसे गया, अभिनय का झूठ कैसे बन गया ? कौन-सा अभाव असामजस्य बन कर असफलता का कारण बन गया ? फिर भी यह किसी बडी ट्रेजेडी की बात नही है । जीवन के निरन्तर प्रवाह के रुक-रुक कर केन्द्रित होने से

आवेगपूर्ण ट्रेजेडी की कल्पना ऋचा को लेकर मन मे नही उठती। जो प्रवाह था उसमे गति थी—आवेग था; उत्ताल तरगे हो और कदाचित् कही छिपा हुआ सैलाबी ज्वार भी हो—पर वह कही बन्द हो कर प्रपात के वेग-सा कृत्रिम नही बना। और इसीलिए प्रवाह के वेग मे, उसकी गति के साथ ऋचा आगे बढती गई है। फिर आज भी उसके विषय मे ट्रेजेडी की बात नही उठती। जो कुछ है, वह नीरव और उदास, उसकी निर्जनता मे भी भयानक की कल्पना नही उठती। कदाचित् जीवन की कोई भी घटना अत्यन्त निकट से अपने प्रपात-वेग मे भी ट्रेजिक न लगती हो, फिर उस ज्वार मे तो सैलाबी प्रसार ही था। और पापा ·····" आरोही सजग होकर एकाएक राजू से पूछ लेता है—"राजू, यहाँ ऋचा के पास क्या कभी पापा नही आये ? सुना है वे तो अब पेशन लेकर लखनऊ मे रहते है।"

मल्लाह अब नाव को धारा के विपरीत ले जा रहा है, उसने डाँड चलाते हुए उत्तर दिया—"हाँ भइया, पापा अब पेंशन लेइके अकेलन लखनऊ माॅ रहत है। बडी दीदी अपने घर माँ अधिक रहती है और अतुल परियाग माँ पढत है। यहाँ तो कभी आएन नाही। हम दीदी से पूछन रहा, लेकिन दीदी कुछ बोली नही।"

आरोही नदी के प्रवाह मे आकाश के चाँद-तारो के प्रतिबिम्ब को हिलता देखता है। हिलोरो के इस खेल के साथ उसे भान होता है, सरिता अपने प्रवाह मे इतनी सरल नही, उसके अन्तर मे न जाने कितने भयानक आवर्तन और विकराल जन्तु होगे। उसे लगता है अपने-आप मे वह अस्पष्ट, दुरूह हो उठा है और अपने को पाने के लिए निरुपाय है। उसी समय पापा की गुरु-गम्भीर मूर्ति उसके मन मे आ जाती है, जजी के गाउन के साथ जैसे भावनाएँ जड हो गई हो। पता नही चलता, इस आकार मे भावो का स्पन्दन किस ओर होकर बिला जाता है ! फिर भी वह मानव-मूर्ति है, उसमे कोमलता की अभिव्यक्ति न हो, ऐसा नही है। प्रौढ आरोही के मन मे विचार-क्रम फिर चलने लगता है—

"और पापा, ओह ! उनको लेकर तो मन किसी विवश विषाद से भर जाता है। जीवन के किस अभिशाप ने अपनी कराल छाया से उन्हे नितान्त अकेला बना डाला है ! भाग्य की किस विडम्बना से, साधन के किस कठोर बन्धन से वे परिवार के बीच मे भी अपने सुख-दुःख को अकेले झेलने को विवश थे ! उनके मुख की सयम की मुद्रा पाषाण पर खुदी हुई किसी कलाकार की तूलिका के स्पन्दनो का बोध भर कराती थी—और उस पर उनका गाउन, जैसे यह सब उनको लेकर स्वाभाविक हो उठा हो। लेकिन दूसरे न समझ सके, उपेक्षा भी करे, पर पापा के उस मूर्त स्वभाव के अन्दर की स्पन्दित भावनाओ को मैं अस्वीकार नही कर सकूँगा। अन्दर के बाहर आने मे जैसा कठोर नियत्रण था, वैसा ही उनके मन का सघर्ष अधिक निर्मम और निष्ठुर था। पर वे अपने को जितना पीडित करते थे, दूसरे उनकी छाया से आकुल हो उठते। उनके बच्चो मे ऋचा ही उनके निकट रही है और स्वभाव को लेकर भी। जीवन का कठोर सयम कदाचित् ऋचा को पापा से ही मिला है। यही कारण है, जब ऋचा ने विवाह अस्वीकार कर दिया तो पापा भीषण विरोध करके भी मान सके थे। ऋचा को लेकर उन्हे विश्वास था, और इसी आधार पर वे अपनी आस्था से सुलह कर सके। यह चलता भी इसी प्रकार। पर दोनो में एक भारी अन्तर भी था। पापा का सयम आत्मपूजन को लेकर था और अहकार पोषित करता था और ऋचा के सयम मे प्रसार का भाव छिपा था जो स्त्री सुलभ कोमलता के साथ त्याग मे अपनी अभिव्यक्ति खोजता था। इसमे भी कोई विरोध की बात न थी; आत्मपूजन के लिए कोमल त्याग की आहुति तो चाहिए ही। और पिता-पुत्री की वह निकटता इसी आधार पर बढती ही जाती। पर ऐसा नही हो सका, जीवन ने अपनी गति बदली। हम विश्वविद्यालय मे थे, ऋचा से मैंने ही अमिताभ का परिचय कराया था। मेरे मन के उल्लास की कौन-सी घडी थी, मैं अपने-आप सोच नही सकूँगा। और अमिताभ... !"

भूला हुआ मेघ का टुकडा चाँद पर आ गया, उसकी छाया नाव पर पड रही है। राजू का मन पिछली बाढ की कल्पना पर रुक गया है। नदी के बढते हुए विस्तार और आवेग के साथ उसका गाँव किस प्रकार निरुपाय होकर धीरे-धीरे डूबता गया। और उसके साथ गाँव वालो की आशाएँ भी जैसे निराशा मे निमग्न हो गईं। कच्चे घरो की दीवारे कट-कट कर गल गईं, छप्पर और खपरैल प्रवाह मे बह गये, केवल रह गये उनमे लगे शहतीर और लट्ठे। खेत मे खडी हुई फसल अनन्त जलराशि मे निमग्न हो चुकी है, साथ ही घरो मे रखा हुआ अनाज भी नष्ट हो गया है। प्रकृति के भीषण प्लावन ने गाँव के लोगों को निरीह और निरुपाय कर दिया। राजू को लगा जैसे बाढ की उत्ताल तरगे उसके मन को आज भी डुबोती आ रही है, उसका दम जैसे उस आन्दोलन से घुटता जा रहा हो। उसने अपने मन की घुटन से बचने के लिए जैसे कहा—"भइया, यी साल जस बाढ तो सुना यहर बीस साल के बाद आई रही। उसमे हम सबन के घर-दुआर बिलाइ गये। ऊ तो कहो दीदी इहाँ रही, नाहिन तो हमारे गाँव वालेन कर कोऊ ठिकान न रहा।" प्रौढ ने इस बाढ की बात सुन कर 'हूँ!' कर दी और उसके मन मे सैलाब की कल्पना उभर आयी। चाँदनी के प्रसार के साथ ही जैसे नदी का सैलाबी विस्तार सागर की तरह फैल जाता है—भीषण लहरो का आवेग, थपेडो की उथल-पुथल और उमडता हुआ जल का सर्वग्रासी प्रसार बढता जा रहा है। तट उस आन्दोलन मे न जाने कहाँ विलीन हो गया है; और कगारो से हाहाकार करता हुआ तरगो का आवर्त टकरा रहा है। जड-निद्रा मे सोया हुआ कगार एकाएक स्पन्दनो से आकुल हो उठा है।...... और इसी के साथ आरोही के मन मे अपनी मुस्कानो में सबका आकर्षण फैलाता हुआ अमिताभ आ जाता है। फिर वह सोचता है—

'और अभिताभ! मैं मानता हूँ, अमित ने ऐसा कुछ पाया था जो दूसरों के लिए वाछनीय हो। उसके गोल मुख पर बडी आँखो मे जो

बरबस मुसकान का भाव अभिनीत रहता था, वह परिचितो के लिए विशेष आकर्षण रहा है। उसके व्यवहार की आत्मगत शालीनता और उसका बात करने का भाव दोनो ही उसके आकर्षण की मानो अभि-व्यक्तियाँ हो। मै उसकी तुलना मे कही किसी ओर ठहर नही सका। सच तो यह है कि उसको लेकर मैने यह सोचा नही। मै उससे खीझा हूँ, झल्लाया हूँ—पर ईर्ष्या या रोष नही कर सका। प्रतिदान के बिना ही मैने प्यार जो किया है उसे। और मैने उसी को देकर तो सीखा है कि देकर ही पाना हो जाता है। जीवन का देना ही उसका सबसे बडा पाना बन जाता है। लेकिन तब यह सब ऐसा ही नही था, हाँ ''तो अमित और ऋचा का परिचय बढता गया, निकटता होती गयी। अमि-ताभ की कलात्मक शालीनता और आत्मलीन प्रेम का अभिनय चलता रहा। वह सब ऐसा ही चलता रहा—और जब तक सामजस्य था, अभिनय सफल था, सच था! पर आत्मपूजन त्याग की सीमाओ मे प्यार का ग्रहण कर तुष्ट नही होता, उसकी चाहना तो नवीन की खोज मे व्यस्त रहती है। इस खोज मे वह आगे बढ जाता है—और त्याग-प्यार अपनी सकु-चित सीमाओ मे रह जाता है विवश, निरुपाय। यही हुआ भी; अमिताभ ने अपनी कलात्मक अभिरुचि का नया क्षेत्र चुन लिया। लेकिन किसी प्रकार इसमे धोखा हुआ हो, ऐसी बात नही। उसको लेकर अभिनय चलता है, उसने धरातल ही दूसरा स्वीकार कर लिया है और उसके अनुसार सामजस्य रक्षित है, अभिनय सत्य है। पर ऋचा को लेकर यह अभिनय झूठा हो चुका है, उसका सामजस्य भग हो चुका है··· और जो चल रहा है वह उसके सयम की पृष्ठभूमि पर · पर पापा का आत्मसेवी सयम यह सब सहन नही कर सका, जो ऋचा ने सहज ही अपने उत्सर्ग के बल पर सह लिया। आज पापा अपने मन के सघर्ष को अपनी पाषाणी प्रतिमा मे छिपाये ऋचा से दूर ही है—।···और अमित!

प्रौढ ने जैसे जाग कर राजू से पूछा—"राजू, क्या इधर अमित

आया था ?" राजू अब नाव को किनारे की ओर मोड रहा है, उसको जैसे याद आ गया हो—"अमित भइया यही दीवाली पर आयन रहे, बहू जी उनके साथ रही। भइया, वहू तो बहुत सुन्दर है, और सुभाव की बहुत नीक है। हमसे बहुत प्रसन्न रही, २०० रुपया देइ का कहि गई है।"

प्रौढ आरोही ने कुछ सोचते हुए अनायास कह दिया—"ऐसी अच्छी है बहू जी ! कैसा रुपया राजू ?"

राजू की लज्जा मे छिपा हुआ उल्लास था—"भइया, बात ऐसन ही आइ गई रही। उन्होने पूछा—राजू, तुम ब्याह क्यो नही कर लेते ? हमने कहा—बहू जी, हमार तो सबइ कुछ बिगड गया, और विवाह मे तो रुपिया लागत है। यही पर बहूजी २०० रुपया देइ का कहि दिहिन।"

आरोही ने अन्यमनस्क भाव से कहा—"अच्छा है राजू, तुम अपना घर फिर बसाओ !"

राजू ने बात बदलने के लिए कहा—"और भइया, उन दिनन दीदी का मन लागा रहा, प्रसन्न लगत रही। लेकिन उनके जातइ ऊ और उदास जानि पडइ लगी है।" कुछ क्षण रुक कर राजू ने जैसे किसी छिपी बात को गहराई से पूछा—"भइया, यी का बात है ? दीदी ऐसेन तो ठीक है, पै उनके मन माँ कौन बिजोग बसा है ?"

आरोही के पास जैसे उत्तर है, पर वह मन के ऊपर नही आ पाता। किनारा पास आता जाता है, बालू और कगार ऊँचाई पर उठे हुए चाँद की खिली मुस्कान मे अधिक व्यक्त लग रहे थे। प्रौढ जैसे अपने मन मे कह लेता है—'नही समझोगे राजू—जीवन की इतनी बडी विवशता नही समझी जा सकेगी।'

नौका तट पर लग गई। सामने बालुका-तट फैला है—उसी के किनारे कगार खडा है और ऊपर आकाश मे धुँधले, टिमटिमाते तारो पर चाँदनी का कुहासा छा गया है। इसी पृष्ठभूमि पर एक स्त्री खडी

है—सफेद वस्त्रो मे, उसका रूप चाँदनी मे स्निग्ध हो उठा है। पर उसमे न कही आकर्षण है, और न किसी प्रकार का उद्वेग ही। उसने आरोही को सबोधित किया—"अरे नीलम भाई, तुम तो आज चाँदनी का आनन्द ही लेते रहे, मै तभी से प्रतीक्षा कर रही थी। और वह तुम्हारे भिक्खुजी तो कभी से अपना सामान ठीक कर रहे है। उन्होने तो आज ही जाने का निश्चय कर लिया है।"

नीलम ने नाव से उतरते हुए कहा—"हाँ ऋचा, मैं तो भूल ही गया था कि आज हमको जाना है।"

"तो क्या तुम भी चले ही जाओगे, नीलम ? आज ही जाना ऐसा क्या ज़रूरी है ?"

उसके मुख की सयत उदासी को लक्ष्य करते हुए आरोही ने कहा—"हाँ, जब भिक्खु चाहते है तो जाना ही होगा।"

अब नीलम और ऋचा तट की बालू पर चल रहे है, राजू पानी मे खडा हुआ उनको चुपचाप देख रहा है। ऋचा ने कगार पर चढते हुए कहा—"सँभल कर नीलम ··। मै तो समझती हूँ नीलम भाई, तुम एक दिन भिक्खु हो जाओगे। यह भी कोई जीवन है, आज यहाँ—नितान्त अकेले, अपनो से दूर।" उसके स्वर मे, घाटी की गूँज का अपनी ही प्रतिध्वनि मे खो जाने का भाव था।

"ऋचा, तुम निश्चिन्त रहो, मुझ से इतना परिग्रही हुआ ही नही जायेगा—यह अपना मन ही जब मुझसे नही सँभलता तो साधना, नियम और गेरुए वस्त्रो का बोझा कौन ढोयेगा।" उस लालिमा के मिट जाने के बाद की धूमिल सध्या जैसी उदासी से उसने कहा।

कुछ क्षण रुक कर गहरे स्वर मे ऋचा ने कहा—"कैसी विचित्र बात है, नीलम ! अमित के जीवन का आदर्श तुम्हे अपनाना पडा है, और तुम्हारा जीवन जैसे अमित ने ले लिया है।" गोधूली मे पक्षियो की अतिम पाँत के निकल जाने के बाद के शून्य एकाकीपन का भाव जैसे फैल गया हो।

नीलम ने देखा सामने 'बडी गुरु जी' का बँगला है, उसने हल्के सहज भाव से कह दिया—"चाहने से ही नही होता ऋचा; हम तो अपनी अभिव्यक्ति-मात्र है ।" जैसे शून्य उदास सध्या मे तारे टिमटिमाते निकल रहे हो ।

नदी चुपचाप बह रही है, अपनी लहरो मे मौन ' तट की बालू फैली हुई है नीरव—उदास, और कगार चले गए है—किसी कठोर जडता को लिये हुए । उन पर बिखरी हुई चाँदनी जैसे पिछले सैलाब के उद्वेग और आवेगपूर्ण आन्दोलन की याद जगा रही हो ।

और नदी मे एक नाव पानी को काटती हुई उस पार की ओर बढ रही है । मल्लाह अपने-आप मे तन्मय होकर गा रहा है—

"गोरी नैना काहे झमकावे !"

उसके विचार-केन्द्र मे कोई उल्लास है और उसकी दृष्टि के सामने उसके पार के हरे लहलहाते खेत है, जो सैलाब के बाद और अधिक उमड पडे है ।

शैतान हँसता है

जाडे की अँधेरी रात है। दस बजते-बजते श्मशान-जैसी नीरवता छायी हुई है। मोहल्ले के सभी घर सिमट कर सो गये है। कुत्ते भूँकते-भूँकते अभी थक कर चुप हो गये है। पर तिराहे का लैम्प-पोस्ट उदास-उदास अपने अँधेरे मन मे धुँआ भरता हुआ जाग रहा है। वह खडा-खडा कडवेपन से मुहल्ले की तन्द्रा को देख रहा है। लेकिन वह अकेला नही है। सामने त्रिकोण पर···अधबने घर के बाहरी आँगन मे कोई व्यक्ति अब भी टहल रहा है। घर की छाया से लगता है, उसके निर्माण मे कोई विशाल कल्पना थी, पर जो अधूरी रह गई है। बाहरी आँगन के घेरे के बीच मे खपरैल है जो शायद ड्राइग रूम की नीव पर उठा लिया गया है। उसके सामने कुछ सूखी हुई लताएँ इधर-उधर फैली है और कही-कही गेदा-गुलाब जैसे फूल के पौधे भी है। वह व्यक्ति उन्ही के बीच से रास्ता बना कर टहल रहा है। एक पुराना लम्बा कोट उसने पहन रक्खा है। धुँधलेपन मे उसके मुख की न तो भाव-भगिमा ही दिखाई देती है और न उस पर गहरी होती बुढापे की छाया। जब कभी वह सहन की दीवाल के निकट पहुँच जाता है, एक झरोखे से आता हुआ लैम्प का प्रकाश उसके मुख पर पड जाता है। और एक झलक मे उसके गोरे मुख पर पडी हुई झाँइयो से तथा उन्नत ललाट पर बनी शिकनो से लगता है, न जाने इस बुढापे मे कितनी पीडाएँ और उत्पीडन छिपे हुए है।

वह टहल रहा है; उसकी गति मे कोई निश्चय नही है और कोई प्रेरणा भी नही है ··केवल मन की अस्थिर विह्वलता गति मे लक्षित हो रही है। उसकी गति जैसे थक कर शिथिल होना चाहती है, टूट जाने का सकल्प लेकर चल रही है। मन मे कोई विचार है जो उसे घेर कर

व्यस्त कर रहा है और उसे लगता है कि बाहर का शून्य अधकार कोला-हल से भरा हुआ प्रकाश है। भावो की अनुभूति मे विचारो का क्रम स्पष्ट नही हो पाता—केवल उलझन बढती जाती है और विचारो की शृ खला मन पर अपनी तेज़ गति मे एक कौध भर छोडती है। इस कौध मे उसके लिए कुछ सोच समझ पाना कठिन हो गया है। एकाएक खप-रैल की कोटर से कोई काला-सा पक्षी पखो पर उछलता उड गया··· सामने पुराने पीपल के पेड पर कोई चिडिया भयानक स्वर मे चीख उठी ··एक तारा टूटा और आकाश को चीरता एक लकीर बनाता निकल गया। वह व्यक्ति जैसे जग गया हो, उसे लगा वह किसी गहरे तल से ऊपर आ गया है, उसे किसी घनी घुटन से जैसे छुटकारा मिला हो। वह अपने चारो ओर के धुँधले अँधेरे को देख लेता है और लैम्प के धुँधले प्रकाश की एक क्षीण रेखा उस अधकार से मिल रही है। दाहिनी ओर के नीम के वृक्षो मे और खपरैल के अन्दर अँधेरा अधिक घना हो गया है। सामने का पीपल काली छाया मे अपना आकार छिपाये खडा है। और उसे लगा कोई अधकार के परदे के पीछे से हँस रहा है। उसके मन पर भय की हल्की लहर आकर निकल गई। पर उसके मन की पीडा घनी हो रही है। हँसी वैसी ही अब भी सुनाई दे रही है। फिर जैसे कोई अपनी हँसी को दाब कर कह रहा है—

'कोई विश्वास नही करता ! दुनिया बात नही समझती ! दुनिया बात समझती है पर बात दुनिया की तरह हो, और विश्वास करने की बात पर ही विश्वास किया जाता है। जिसने जिन्दगी जेल की नौकरी मे बिताई है, उसके पास लाख-दो लाख भी न हो, यह क्या विश्वास करने की बात है। ठाकुर तेजपाल पुराने आदमी है' 'सब प्रकार से कुशल। और भाई, सच बात तो यह है कि रुपये की गरमी के बिना कोई अकड कर चलेगा कैसे। दुनिया न ऐसी अधी है और न ऐसी नादान ही, जो ऐसी मोटी बात को देखी-अनदेखी कर जाय। यहाँ हाल है कि लोग आते-जाते मनाते है कि किसी सरकारी अफसर की निगाह मे पड जायँ तो

सलाम ही कर ले, कभी किसी आडे वक्त काम आयेगा ही। और ठाकुर है कि किसी के सामने झुकते ही नही। कहते है, दफ्तर और ड्यूटी के बाहर कौन किसका अफसर! यह भी कहने की बात है कि उन्हे अपनी जेल की नौकरी से अपने लडके के कारण अलग होना पडा, और पेशन कम मिलने के कारण राशन की इन्सपैक्टरी जैसी छोटी नौकरी करनी पडी। अग्रेजी राज्य मे ऐसा अन्धेर कभी नही हुआ। यह भी किसी ने सुना होगा कि लडके के क्रान्तिकारी होने से बाप को पेशन के लिए मज़-बूर किया गया हो। और हज़ार सप्लाई अफसर ठाकुर के मित्र हो और उनसे सहानुभूति भी रखते हो, पर इससे क्या! सप्लाई की नौकरी सरकारी नही है। भाई, सीधी बात है : लडाई का ज़माना है, सरकार सतर्क है। ठाकुर साहब का पुराना अभ्यास···आखिर दाब मे आगये। और ५३ वर्ष की अवस्था मे पेशन जल्दी भी कैसे हुई, फिर सप्लाई की इन्सपैं-क्टरी जेल की अफसरी से बुरी क्या है? और जो यह मकान नही बन सका, नीवे भर पडी है···दो एक कमरे बने, सो आगे नही बढ सके। यह भी समय की बात है। सरकार ने हज़ार का नोट बन्द कर दिया, आखिर क्यो? रुपये का ढिढोरा पीटना तो आज के ज़माने मे पुकार-पुकार कहना है कि अपने भाग्य से दुश्मनी है। बद अच्छे बदनाम बुरे·· कहा भी है। सो ठाकुर तेजपाल ऐसे कच्चे नही कि करे और गाये · वे तो 'नेकी कर और कुएँ मे डाल' मानकर चलने वालो मे है।'

वह सुन रहा है, फिर हँसी के साथ ध्वनि अँधेरे मे डूब जाती है। वह अब भी उसी प्रकार टहल रहा है। आवाज़ उसके मन को झकझोरती हुई विलीन हो जाती है, उसकी गति मे जैसे टूट जाने का सकल्प दृढ होता जा रहा है। वह धुँधले अँधेरे मे देखता है—सामने वकील काली-चरण की कोठी है—अच्छी दो-मजिली। वह समझ भी लेता है। काली-चरण वकील है। योग्यता पुस्तको के ज्ञान को नही कहते और न योग्यता वकालत चलने का रहस्य है। बाबू साहब की वकालत चलती ही है। अदालत की हार-जीत वकील को प्रभावित करती नही, वह तो

निष्काम साधक है। सो वकील साहब को रुपया भी मिलता है और उनकी वकालत चलती ही है।

फिर पास ही मुंशी लखपतराय है। उनकी नाक की नोक पर चश्मा टँगा रहता है और देखने से लगता है कि मन के अन्दर बैठ कर बात निकाल लेगे। वह है कि बडे-बडे मामले-मुकदमे चुटकियो मे तय कर ले और लेन-देन तो सकेतो मे कर लेते हैं। वह बुद्धि मे वकील साहब से कम नही, फिर यदि उनका मकान वकील की कोठी से हल्का पडता है, तो वकील जमीदार भी है। और फिर पडौस मे कलक्टर साहब के पेशकार भी रहते है। कहने को साधारण क्लर्क है · पर साहब की हुकूमत का रोब उनमें कम नही है। इस महँगी मे सौ-सवा सौ होता ही क्या है; फिर उनके दो लडके तो लखनऊ मे पढते है। इस वर्ष लडकी की शादी मे कुछ नही तो दस हजार उनके खर्च ही हुए होगे। पीछे सेठ भूरामल का पुश्तैनी मकान है, देखने मे पुराना-भद्दा है तो क्या ! सेठजी तडक-भडक मे विश्वास कम ही करते है। और जब जमाना ब्लैक (चोर-बाजारी) का है, इससे जितना बचा जाय, अच्छा है। यह बात दूसरी है, मिट्टी के तेल और चीनी मे उन्हे ऐसा ही कुछ करना पडता है। पर क्या किया जाय, सप्लाई वालो को खुश रखना ही पडता है और जनता को मना भी कैसे करें ! लोगो को जरूरत है तो बेचारे देते ही है। इस प्रकार उसका पडौस है। और यही पडौस फैलता-फैलता मोहल्ला हो गया है, मोहल्ले-मोहल्ले सिमट कर नगर बन जाते हैं। इसी प्रकार गाँव-गाँव, नगर-नगर दुनिया फैली है। दुनिया की अपनी बात है, वह उसी के अनुसार सोचती समझती है। ये सब उसके पडौसी है और इस नाते सहानुभूति भी रखते है। ठाकुर के विषय मे वे सोच लेते है, यह क्या कम है ! इस युग मे इतनी फुर्सत कहाँ है किसी को !…

पर इस मोहल्ले मे कुछ और लोग भी है। वे सामने की गली मे रहते है और पडौसी ही हैं। वे सभी एक्का हाँकने वाले, मजदूर-पेशा, कारीगर लोग हैं। पर इस वर्ग के लोगो और उस वर्ग के लोगो मे जैसे

कोई समता नही है। वे एक-दूसरे के न लेने मे है, न देने मे। नीचे खपरैलो, मिट्टी की सीली कोठरियो और फटे टाट के पर्दों मे रहने वाले इन लोगो का आचरण अच्छा भले न हो, पर इन्हे उसे छिपाने के लिए न घाते चलनी पडती है और न चोला ही रँगना पडता है। वे खुले भाव से झूठ बोल सकते है और मुक्त कठ से इश्किया गाने भी गा सकते है · पर उनके मन मे कही घुटन नही है। युद्धकालीन महँगी का असर उन पर अधिक नही पडा है। वे दिन-भर मेहनत-मजदूरी करते और शाम को खा-पीकर सो जाते है और कभी-कभी घर वाली को खुले-आम बजाते भी हैं। वे किसी की परवाह नही करते और न उनकी कोई परवाह करता है। ये सब भी उसके पडोसी है, पर इनका वर्ग दूसरा है। इस कारण उनकी सहानुभूति भी दूसरी प्रकार की है। शायद उनके मन मे लाख दो लाख की बात उठती नही, और वे ठाकुर साहब की बाहरी विपन्नता के भीतर कोई रहस्य देख नही पाते है। उन्हे लगता हो, जैसे यह व्यक्ति उस वर्ग मे बैठ नही पा रहा है, जिसमे वह रहता है। कभी अपनी बातो मे वे उसके पास पहुँचने का प्रयास करते है, पर उसका वर्ग बिलकुल अलग है, यह उनके सामने स्पष्ट है।

वह वैसे ही टहल रहा है। अपने मन की उलझन से जब वह निकल पाता है, तब जैसे अनायास ही उसके विचार मे सारी बाते फैलने लगती है। लेकिन मन पर एक भारीपन, पीडा की गहरी घनी होती छाया ज्यो-की-त्यो बनी हुई है। अँधेरे मे अब भी कोई हँस रहा है·· दबी-दबी सी हँसी जैसे सुनाई दे रही है। इस हँसी से विकल होकर मन के अन्दर से कोई आवाज़ आ रही है, जैसे कोई उत्तर दे रहा है—

'दुनिया कुछ जानती हो, पडौसी कुछ सोचते हो पर व्यक्ति अपने आप को जानता है और समझता भी है। व्यक्ति अपने को जानकर ससार को नही समझ सकेगा · पर ससार को न जानकर अपने को समझ सकता है। ठाकुर जानते है कि दुनिया क्या सोचती है, और यह भी कि दुनिया किस प्रकार चलती है। फिर यह भी जानते है कि वे किस

प्रकार चलते आये है। उनके सीधे जीवन मे एक बडा विश्वास बन गया है—जीवन मे कोई सत्य है और उसी को लेकर जीना है। न जाने कैसे, यह सत्य उनके मन मे बैठ गया है, बिलकुल एक सरल रेखा के समान। जहाँ सत्य मे मोड हो, जहाँ कही सत्य घूमकर चलता हो, ठाकुर के लिए वही सत्य अग्राह्य हो जाता है। उनके मन को लगता, वह टेढा सत्य सरल झूठ से कही भयानक है। वे जानते आये हैं, जीने का सीधा रास्ता ही उनका है, उसी पर चला जा सकता है। कितने लोग हैं, सत्य को कठिन मानकर दृढता से उस पर चलते हैं। सोचते है, वे ऐसा कुछ कर रहे हैं जिसको केवल वे ही कर सकते है। अन्य सब अपराधी है, अकिंचन है। लोगो को चाहिए उनको सत्य की उपासना के लिए मान दे, सम्मान करें। उनका सत्य अहकार है और इस महत्ता मे वे सुख और ऐश्चर्य दोनो का उपभोग करते है। जैसे वे ऊँचे स्वर से कहते है—दुनिया उनके सत्य और त्याग को देखे और उसके लिए कृतज्ञ होकर उनको अधिक सुविधाएँ दे।

परन्तु ठाकुर का स्वभाव सकोची है, और स्वभाव उनके जीवन की विवशता बन गया है। वे वैसा ही कर सकते है, इसी प्रकार चल पाते है, और तरह से उनसे बनता ही नही। तब जब वे जेल के अफसर थे और अब जब वे सप्लाई के इसपैक्टर है, उनसे सरल सत्य ही निभ सका है और कठोर वे हो नही पाते। वे जैसे अपने सत्य के प्रति कठोर नही है, वैसे ही दूसरो की सत्य की उपेक्षा के प्रति निर्मम नही हैं। वे अपने नीचे काम करने वालो को भूल करते देखकर समझा देते है, उनको अपराध करते पकड कर भी सचेष्ट करके छोड देते है। पर यह दुनिया कठोरता के नियम पर चलती आयी है। वह सरल रेखाओ पर नही चलती, वह दूसरो की बात साधारण पैमाने से नही नापती। सगी-साथी ठाकुर को भला आदमी मान सकते है, पर उनको उनसे विरुद्ध रहने के कारण भी मिल जाते है। वह जिनकी भलाई करते है, वे सोचते ठाकुर से अधिक सुविधाएँ प्राप्त कर सकते थे; जो उनसे लाभ उठाते,

वे सोचते, ठाकुर मे यदि ईमानदारी की मूर्खता न हो तो कितना अधिक लाभ हो सकता है ! पर ठाकुर तेजपाल इन सब बातो की चिता करके कब चलते है ! हाँ, आज लगता है उनकी राह अधिक अकेली और कठिन होती जा रही है। पर उनकी अपनी भी मजबूरी है—वे इस रास्ते को छोडकर चल भी तो नही सकते है !

\+ \+ \+

फिर सब-कुछ नीरव और शान्त हो जाता है। वह टहलते-टहलते जैसे शक्तिहीन हो गया हो। वह शिथिल भाव से खपरैल के नीचे बिछे हुए तख्त पर बैठ जाता है। वह तख्त को दोनो हाथो से पकडे बैठा है, जैसे बैठे रहने मे उसे प्रयास करना पड रहा हो। और सामने दीवार के सूराख से आती हुई प्रकाश की क्षीण रेखा को वह एकटक देख रहा है। वृक्षो की छाया और खपरैल के अन्दर के अन्धकार से आती हुई हँसी से बचने के लिए उसे इस प्रकाश से सहारा मिल रहा है। और प्रकाश की यह रेखा जैसे उसके मन मे निकट जीवन की छाया डाल रही हो।

सन् ४२ की क्रान्ति का क्रम चल रहा है, और दमन-चक्र उससे अधिक वेग से अपनी गति और शक्ति का प्रमाण दे रहा है। ठाकुर का बडा लडका एक दिन पकड लिया जाता है। कहा जाता है—उसने रेलवे-पुल उडाने का प्रयास किया है, ट्रेन उलटने की कोशिश की है और जेल का डडा (दीवाल) उडाकर कैदियो को भगाने का उद्योग किया है। ठाकुर उसी जेल के अफसर है। जब किसी सरकारी कर्मचारी का लडका सरकार के विरुद्ध हो, तो उसका कर्त्तव्य कठोर हो जाता है और स्थिति बहुत नाजुक होती है। उनके विभाग का कहना है—ठाकुर ने अपने लडके पर नियत्रण नही रखा, सी० आई० डी० की रिपोर्टर है कि ठाकुर अपने लडके के साथ है। ठाकुर तेजपाल के मन मे रक्त-क्रान्ति की भावना कभी बैठ नही पाती है। अनेक सरकारी

नौकरो की भाँति उनके मन मे भी देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के प्रति सहानुभूति रही है। पर उनके मन की भावना एक सीमा बनाकर चली है। वे अपनी नौकरी ईमानदारी से करते है और सरकार की किसी ऐसी आज्ञा का पालन करना वे अपना धर्म नही मानते, जिससे उनके स्वाभिमान को धक्का पहुँचे। उनके इस विचार को सरकार न जानती हो, ऐसा नही है, वरन् उनके इसी स्वभाव के कारण अग्रेज अफसर उनका अधिक सम्मान करते रहे है। पर सरकार उनको खतरनाक व्यक्ति समझती आयी है और वह उनकी ईमानदारी से अधिक उनके इस स्वभाव से परिचित है।

···इस आकस्मिक स्थिति मे ठाकुर अपना कर्तव्य निश्चित नही कर पाते है। उनके मन मे इतना स्पष्ट है कि वे इस प्रकार के विद्रोह के पक्ष मे नही है। परन्तु उनके मन की सरल बात सरकार इतनी सीधी तरह नही समझ सकती है। विभाग ने उनको मुअत्तल कर दिया। अब ठाकुर के सामने अधिक कठिन समस्या है—सात-आठ प्राणियो का बडा परिवार और परदेश मे अकेला साथ। उनके साथी और मित्र उनकी सहायता करके सरकार की आँखो मे क्यो चढना चाहेगे! उनके साहब ने समझाया कि लडके के विरुद्ध होकर वे अपराध से बच सकते है। सी० आई० डी० इसपेक्टर, जिसके हाथ मे केस है, उसने भी ठाकुर साहब के कानो मे बात पहुँचायी कि वह केस मे सरकार की सहायता करके ही बच सकते है। पर ठाकुर साहब के मन मे यह उतरना कठिन है। यह कैसे होगा, अपने लडके के विरुद्ध कैसे कहा जायगा, अपने स्वार्थ के लिए दूसरो को कैसे फँसाया जायगा! नही, यह उनके वश की बात नही है, उनसे यह नही हो सकेगा।

साथी कहते है—'ठाकुर साहब, घर की ओर देखिये; दुनिया की बात सोचिये। गृहस्थी बडी है, छोटे-छोटे बच्चे है, लडकी सामने है। आखिर आपको कहना क्या है! यही कि आप उन लडको को अपने घर पर अपने लडके के साथ अक्सर देखते थे और आपका लडका आपके

कहने मे नही था। इतनी-सी बात से आप बच जायेगे और लडके का भी खयाल रखा जायगा। इस प्रकार न अपने लडके की रक्षा कर सकेगे और अपनी हानि भी करेगे।' सहानुभूति से कही गयी इतनी सरल बात ठाकुर की समझ के बाहर की है। वह समझ नही पाते, अपनी रक्षा के लिए, अपने स्वार्थ के लिए, दूसरे के लडको को कैसे फँसा दिया जाय, दूसरे परिवारो को कैसे सकट मे डाल दिया जाय। फिर वह जानते-समझते हैं कि यह सब बहुत-कुछ गढा जा रहा है, वाहवाही के लिए तिल का ताड बनाया जा रहा है। फिर वह कैसे उसमे सहयोग दे! उनके मन पर बादलो की घनी छाया है और परिवार की याद बार-बार चमक जाती है। चिन्ता उनको घेरे हुए है—पर जो बात उनकी समझ मे नही आती, उसको वह कर भी नही सकेगे।

तख्त छोडकर वह व्यक्ति अपने हाथो से गाल ढक लेता है। सामने के धुँधले अँधकार मे अब भी लैम्प का प्रकाश दीवाल के छेद से आकर मिल रहा है। हवा का झोका पास के नीम के पेड को अपरिचित भाव से हिला देता है और सामने के पीपल के पत्ते लडखडा उठते है। पास के वृक्षो के घने होते अँधेरे से हँसी वैसी ही सुनायी दे रही है। उस व्यक्ति की घनी मूँछो और बिखरे बालो से आकृति की रूपरेखा मे उदासी गहरी हो उठी है। और उसके मन पर उभरने वाला पिछला जीवन फैलता जाता है।

ठाकुर साहब मुअत्तल है। परिवार पर उदासी की घनी छाया पड गई है जैसे कठिनाइयो और विपत्तियो की आँधी आने वाली हो। लेकिन ठाकुर का मन अस्थिर रह कर भी स्वाभाविक रूप से शान्त है। उनके विभाग से उत्तर माँगा गया। उन्होने साफ लिख दिया कि मै विद्रोह के रूप से बिल्कुल असहमत हूँ। पर मेरे लिए अपने लडके से कुछ कह सकना सम्भव नही है और मैं उसका उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लेने

के लिए तैयार नही हूँ। मेरी ओर से उसे अपने विश्वास पर चलने की पूरी स्वतन्त्रता रही है। उसको अपने विश्वास के विरुद्ध चलने के लिए कहना, मेरे अपने विश्वास के विरुद्ध है। फिर यदि उसे अपने विश्वास के लिए कष्ट सहना है, जेल जाना है या फाँसी ही क्यो न चढनी पडे, उसको यह सब कुछ सहना चाहिए। उनको मुअत्तल रखने के पर्याप्त कारण उनके विभाग के पास नही है। एक मास पूर्व ही उनको विभाग की ओर से पुरस्कार मिला है। लेकिन इन दिनो पुलिस का राज्य है, शासन की व्यवस्था की ज़िम्मेदारी उसके ही कन्धो पर है। मजिस्ट्रेट को भी पुलिस के अनुसार चलने की मजबूरियाँ है, जेल-विभाग की बात ही क्या ! ठाकुर को कुछ दिन और मुअत्तल रखा गया, विभाग के कागज़ फाइलो मे घूमते रहे।

सी० आई० डी० और पुलिस शहर की साधारण घटनाओ से कोई भारी केस खडा करना चाहती है। ठाकुर उनके बडे काम के हो सकते है, अपनी गवाही से और अपने लडके पर मुख़बिर बनने के लिए प्रभाव डाल कर भी। सच पूछे, उन्हे खीझ थी कि उन्ही के वर्ग का आदमी उनके काम नही आ रहा है। मजिस्ट्रेट के बँगले पर दोनो विभागो के अफसर ठाकुर से मिले। उन्होने बहुत समझाने का प्रयास किया, पर ठाकुर के पास एक ही जवाब है—"पिता होकर, लडके को उसके विश्वास, सत्य और उसकी ईमानदारी के विरुद्ध चलने के लिए कैसे कह सकता हूँ !" मजिस्ट्रेट को इस आग्रह के प्रति कुछ श्रद्धा हुई, पर इतनी स्पष्ट बात से अपना भी अपमान लगा। दोनो अफसर झुँझलाये। सी० आई० डी० के अफसर ने अपना अतिम दाँव लगाया—"लेकिन ठाकुर साहब, आप समझ ले। आपकी बात का अर्थ है कि आप अपने लडके के साथ है, आप उसे बढावा देना चाहते है।" ठाकुर के पास जैसे उत्तर तैयार है—"मेरे वश की क्या बात है। साहब, लडको को मैंने भरसक अच्छी शिक्षा दी हैं। अब वह बडा है और सोचने-समझने के लिए स्वतंत्र है। वह हमारी-आपकी तरह अपने रास्ते पर चलने के लिए मुक्त है।

हाँ, यदि वह मुखबिरी करके छूटने का प्रयास करता, तो मै उसे अवश्य झूठा और बेईमान समझता। फिर मै उसका मुँह भी देखना पसन्द न करता।" एस० पी० साहब इस प्रकार के उत्तर सुनने के अभ्यस्त नही है। उन्होने चिढकर जैसे अन्तिम बात कह दी—"अच्छा ठाकुर साहब, आप सोचने के लिए कुछ समय ले। मै आपको यही सलाह दूँगा कि आप इस मामले मे खूब सोच-समझकर कुछ तय करे। नही, बाद मे पछताना पडे।"

ठाकुर का सयम चरम पर पहुँच चुका है। उन्होने मजिस्ट्रेट को सम्बोधित करके जैसे अपना निर्णय कह दिया—"देखिये साहब, मैं अभी तक लिहाज़ कर रहा था। पर आप सतर्क रहिये। मैंने भी सरकारी नौकरी मे बाल सफेद किये है। सी० आई० डी० के पक्ष मे गवाही देने के लिए आप लोग अपनी स्थिति के प्रभाव से मुझे झूठ बोलने के लिए बाध्य कर रहे है। आप स्वय जानते है कि यह कितना बडा जुर्म है। आप किस बिना पर कहते है कि मै अपने लडके के साथ हूँ। यदि सी० आई० डी० के पास सबूत है, तो मुझे वारण्ट से गिरफतार कराइये। क्या अब भी आपको कुछ कहना है?" ठाकुर की बात से सभी चकित है, उन्हे अपने अपमान का क्षोभ भी है। सी० आई० डी० के अफसर ने अपनी बात सँभाली—"ठाकुर साहब, यदि ऐसा होता तो हम आपके सामने इस प्रकार न आते। अच्छा तो फिर आप जाने, हमने अपना फर्ज अदा कर दिया है।"

इसके बाद ठाकुर साहब से किसी ने कुछ कहने का साहस नही किया। लेकिन उनके सामने बहुत कठिन समस्या है। दुनिया की अपनी बात है और घरवाले भी उसी के साथ है। सभी लडके के विरुद्ध है, वे उसे निकम्मा और नालायक कहकर सतोष करना चाहते है। जो लडका जी लगाकर पढता नही, नौकरी करने के लिए उत्सुक नही और न्याय-अन्याय को लेकर इधर-उधर उलझता फिरता है, उस लडके को दुनिया नालायक और आवारा नही कहेगी तो क्या कहेगी! पर ठाकुर इस प्रकार सोच नहीं पाते, इस प्रकार समझना उनके लिए सरल नही है। ठीक

है, यदि लडका पढ लिखकर नौकरी करता तो अच्छा था, इस प्रकार उनका बोझा ही कम होता। पर अन्याय के प्रति असहिष्णु होना तो व्यक्ति का गुण है, देश की स्वतत्रता के लिए विद्रोह करना वीरता है। सफलता और असफलता साधनो पर निर्भर है, उससे उद्देश्य पर कैसे प्रभाव पडता है ! इससे लडके के चरित्र मे कोई बल नही पडता। हाँ, यदि वह अपने मार्ग मे हार मान ले, या वह अपने साथियो से विश्वास-घात करे तो वह अवश्य अपमान की बात होगी, लज्जा की बात होगी।

इस प्रकार ठाकुर दुनिया की बात मानकर नही चल पाते हैं। परि-णाम हुआ, दुनिया उनको अपने अनुसार चलने के लिए विवश करती है। उन्होने विभाग से न्याय की माँग की और पूछा—विभाग के पास उनको मुअत्तल करने के क्या कारण है ? जॉच से कोई अपराध सिद्ध नही हो सका। उनको पूर्ण रूप से बहाली मिल गई और पिछले दिनो को भी नौकरी के अतर्गत माना गया। पर आकस्मिक रूप से उनको डाक्टरी जॉच मे बताया गया कि अच्छा स्वास्थ्य न होने के कारण उन्हे पेशन समय से पहले दी जायगी। और इस प्रकार महँगी के कठोर दिनो मे ठाकुर तेजपाल को तिहाई से कुछ ही अधिक पेशन मिल सकी। वह समझ नही पाते है कि उनकी हार हुई या जीत।

आकाश मे धुँधले प्रकाश मे खपरैल की छाया मे वह व्यक्ति अब भी बैठा है। उसने अपने हाथ चेस्टर की फटी जेब मे डालकर धीरे से अपने को दाबा, जैसे मन पर छाती हुई ठडक से बचना चाहता हो। पास के नीम के वृक्ष पर कोई पक्षी सोते-सोते चौक कर घोसले से गिर पडा हो जैसे, और फिर जागकर पख फडफडाता अपने घोसले मे जा घुसा। उस व्यक्ति को अब भी आभास मिल रहा है कोई अँधेरे मे मुसकराते-मुसकराते हँस पडा हो। और मन मे पिछली घटनाएँ घूमती जाती है।

जैसा पडे, सहना ठाकुर का स्वभाव बन गया है। वे नौकरी से मुक्ति पाकर एक छोटे से नगर मे आ गये है। यहाँ किसी समय उन्होने अपना मकान बनवाने की योजना बनायी थी। स्थान उनको अच्छा लगा था। मकान बनना शुरू हुआ था, पर बन नही सका। युद्ध की भयानक महँगी मे उनके लिए खर्च चलाना मुश्किल है, उसपर लडके के मुकदमे मे रुपया लग रहा है। लडके को लेकर उनसे किसी को सहानुभूति नही है। यहाँ तक कि पत्नी भी पारिवारिक आपत्ति का कारण अपने लडके को मानती है। सभी लडके को दोष देते, एक ठाकुर साहब ने उसके विरुद्ध एक शब्द नही कहा है। वे उसके चरित्र को लेकर गर्व ही करते है ··

और लडके मे ठाकुर के चरित्र का अश है। उसे हजार कष्ट और उत्पीडन दिये गए, पर उसे मुखबिर नही बनाया जा सका। पुलिस ने एक और जाल भी रचा। उसको दूर से पिता को दिखाया गया, उस दिन वे मुअत्तिली की दशा मे दुखी और विपन्न लगते थे। इस पर पुलिस वालो ने धमकाया कि यदि वह अपने बयान मे अपराध स्वीकार नही करेगा तो उसके पिता को नौकरी से अलग किया जायगा। लडका अपने पिता की स्थिति तथा परिवार के कष्ट की कल्पना से काँप गया। उसने अपना बयान देना स्वीकार कर लिया। लेकिन पुलिस को फिर भी निराशा हुई। उसने मुखबिरी नही की। उसने बयान मे केवल अपना अपराध स्वीकार किया, किसी दूसरे का उल्लेख भी नही किया। पुलिस के पास उसके विरुद्ध सरकारी मुखबिर के बयान के अतिरिक्त कोई प्रमाण नही था। अपने परिवार के लिए उसने अपने को फँसा लिया। बाद मे जब ठाकुर और उनका वकील उससे मिले, तो उसे आश्चर्य हुआ। जज के सामने उसने अपना बयान बदला भी, पर केस उसके विरुद्ध जा रहा है · और इस प्रकार का है वह लडका। दुनिया की राय के बाद भी ठाकुर उसे पहिचानते है। वे उसके केस मे भरसक प्रयास कर रहे है।

दुनिया का तूफानी प्रवाह आदमी को कुछ बना भी लेता है। स्थानीय सप्लाई अफसर ठाकुर तेजपाल के उन मित्रो मे निकले जो सरकारी नौकरी मे ईमानदारी के आदर्श के निर्वाह को समझते है। इस स्थिति मे वे स्वय ठाकुर से मिले और उनसे इस आर्थिक कष्ट मे सप्लाई इन्सपैक्टरी करने का आग्रह किया। ठाकुर को यह नौकरी अपमानकर लगी। पर उनका आर्थिक कष्ट बढता गया, घर का खर्च चलना ही कठिन था, उसपर केस की पैरवी भी करनी पड रही है। वे मित्र को धन्यवाद देकर नौकरी स्वीकार कर लेते हैं, मित्र जैसे व्यक्ति की मात-हती खलने की बात भी नही थी। इन सारे प्रयत्नो मे बुढापा उनपर अधिक तेज़ी से छा गया है, फिर भी अत्यन्त परिश्रम से वे अपना कर्तव्य निभाते रहे। दूसरे प्रकार की नौकरी, काम दौड-धूप का अधिक। उधर मुकदमा भी चलता रहा, उसके लिए बार-बार जाना भी पडता। परन्तु सीमित साधनो से अदालतो मे अधिक आशा लेकर नही चला जाता। लोगो ने कहा भी कि काग्रेस के लोग सगठित होकर राजनीतिक मुकदमो की पैरवी कर रहे हैं, आप उनसे सहायता क्यो नही माँगते? परन्तु उनका उत्तर था कि "मैं अपनी भरसक करता हूँ। भाई, काग्रेस चाहेगी और उचित समझेगी तो उसकी पैरवी करेगी, पर मैं क्यो कहूँ!" कुछ शुभचिन्तको ने दौड-धूपकर प्रयास भी किया, परन्तु किसी अप्रसिद्ध व्यक्ति के केस को कोई क्यो लेता! काग्रेसी वकील ऐसा नही करते कि पैसे की हानि हो और यश भी हाथ न आये। फिर देशप्रेमी वकीलो को इतनी फुर्सत भी कहाँ है!

वह व्यक्ति किसी अज्ञात चिता से अस्थिर होकर खडा हो जाता है। सामने पीपल की घनी विरल छाया के ऊपर नीला आकाश फैला हुआ है। आकाश के विस्तार मे अनगिनत तारे चमक रहे हैं, दूर कही दूर कोई सियार हुआ-हुआ कर उठा; मोहल्ले के किसी कुत्ते ने जैसे

स्वप्न मे चौककर उसका उत्तर दिया—इसके बाद फिर सब शान्त—नीरव ! उसके मन मे न जाने कैसे भाव घिर-घिर कर घने होते जा रहे है। अज्ञात हँसी सुनायी दे रही है। इसका सहना उसके लिए कठिन होता जा रहा है। अनायास उसके मुँह से अस्पष्ट से शब्द निकलकर नीरवता मे मिल जाते है—जैसे कह रहा हो—प्रभु-प्रभु !

लडके को जिले के न्यायालय से १४-१४ वर्ष की दो सजाएँ हुई। कितनी बडी विवशता है ! प्रयत्न के आगे मनुष्य कर ही क्या सकता है ! यह सुनकर माँ का हृदय विकल हो उठा। उसने अपने मन की विवशता रो-रोकर निकाली और अपने मन का आक्रोश लडके को बुरा-भला कहकर शान्त किया। स्त्री अस्थिर हो उठती है और शान्त भी हो जाती है। परन्तु पुरुष के लिए न अस्थिर होने की स्वतन्त्रता है और न शान्त होने का अवसर। हाईकोर्ट मे अपील करना अन्तिम कर्तव्य था और ठाकुर ने उसका भी निर्वाह किया है। लोगो ने समझाया, हाईकोर्ट मे किसी नामी वकील से ही काम चल सकेगा। इतनी मोटी बात वह भी जानते है और क्या वह जिला कोर्ट मे बडा वकील नही करना चाहते थे ! कुछ लोग दबे स्वर से यह भी कहते—आखिर रुपया होता है किस लिए ! क्या इतनी कमाई मे से लडके के लिए दो-चार हज़ार भी खर्च नही किये जा सकते ? ठाकुर को यह बात भी सुनायी देती है, पर सुनकर भी न सुनना उनका अभ्यास है। हाईकोर्ट मे केस चल रहा है, एक साधारण-सा वकील रख लिया गया है। यह सब भी उनकी हैसियत के बाहर ही है, घर की गाडी किसी प्रकार चल रही है—बस !

इधर नया अफसर आ गया है, उनके मित्र पडितजी बदल गये है। नया अफसर दुनियादार और अफसरी-पसन्द आदमी है। ठाकुर को आरम्भ से ही लगा, जैसे कठिनाइयाँ बढने वाली है। लोगो ने कहा—समय पर दब कर चलना होता है। पर ठाकुर समझते—जितना दबा

जा सकता है उतना तो वह सदा दबकर चलते ही है, उन्होने गर्व तो कभी किया नही। पर उनको अपने स्वभाव की विवशता भी ज्ञात है। नये अफसर ने आते ही दूसरे इन्सपैक्टरो की सिफारिश के साथ ठाकुर को जिले भर के कपडे की इसपैक्टरी दे दी, जिसमे दौरे का काम ही अधिक है। ठाकुर समझते है, पर उन्होने अपना काम तत्परता से सँभाला। कठोर परिश्रम से ही उन्होने अपने स्वभाव का निर्वाह जीवन भर किया है। पर दिन-दिन धूप-पानी की दौड उनको शिथिल करती जा रही है। उधर उनको समाचार मिल रहा है कि लडके की आँते कमजोर होती जा रही है, आँतो की टी० बी० का भय है। वह सब सुन-समझ लेते है, और जैसे उनके शरीर मे एक पीडा व्याप्त होती जा रही है, उनके मन मे एक व्यथा सिमट कर घनी होती जा रही है।

ऐसा नही कि धन उनसे दूर रहा हो, या आज ही पैसा उनके आस पास दिखायी न देता हो। पैसे की माया उनके चारो ओर फैली है। और वह यह न जानते हो कि पैसे की शक्ति से क्या कुछ नही हो जाता, ऐसा भी नही है। यह भी समझने की बात है कि जीवन मे चलने की सबसे बडी कठिनाई, पैसे ने अपने अपमान के बदले मे ही पैदा कर दी है। पैसा का देवता स्वाभिमानी है और कठोर भी। वह अपनी उपेक्षा सह नही पाता और बदले मे निष्ठुर दड भी देता है। पर ठाकुर भी अपनी किसी विवशता मे हैं। उनके मन मे पता नही, किस अह का इतना बडा सहारा है कि वह पैसे के देवता की उपेक्षा करके ही चलेगे। उनके मन का भी न जाने कैसा स्वाभिमान है कि अपनी सारी कठिनाइयो मे उस देवता के सामने झुकेगे नही, और स्वभाव की कठोरता भी ऐसी है कि उसके किसी दड को स्वीकार करके चलते भी नही।

वह व्यक्ति धीरे-धीरे फिर झाडो के बीच सहन मे टहलने लगता है। चाल से लगता है, गति अपनी विवशता मे चक्कर लगा रही है—

उसमे न आगे बढने का उत्साह ही शेष है और न जम-जम कर चलने की दृढता ही। आकाश चुप है, तारे उदास है, वृक्ष अपनी छाया मे नीरव है। हवा का झोका आता है—आकाश मुसकरा देता है, तारे हँस पडते है, वृक्षो की छाया हिल जाती है और सामने के पीपल के पत्ते खडखडा उठते है। पता नही, अँधेरा क्यो हँस रहा है, जैसे कोई कुछ कह रहा हो—

'जो देख कर नही देखता उसको कोई क्या कहेगा ! जो समझ कर नही समझता, उसे कोई क्या समझायेगा ! जो दुनिया के साथ नही चलता, जो दुनिया के देवता को मानकर नही चलता—वह चल भी नही सकेगा, टूट जायगा, नष्ट हो जायगा। देवता क्षमा नही करता। और देवता—चारो ओर उसी का वैभव तो फैला है। पैसा, रुपया, मणि-माणिक्य, सोना-चाँदी तो उसके प्रतीक-मात्र है। यह नगरो का वैभव, धनिको का ऐश्वर्य, शासन की सत्ता आखिर और क्या है ? यह अधबना मकान कोठी हो सकती है, अफसर, बेचारा अफसर तो देवता का पुजारी है। लडका—वह तो देवता की कृपा-दृष्टि मात्र से छूट सकता है। यदि न भी छुटे तो जेल मे सभी सुख पा सकता है। और फिर बाद मे नेता बनकर देश का प्रसिद्ध सेवक भी हो सकता है। लेकिन जो समझ कर भी नही समझता…'

आवाज़ शून्य मे डूब गयी। वह एकाएक रुक जाता है। उसे जैसे गरमी लग रही हो, हृदय का स्पन्दन तेज़ हो गया है। चेतना की एक लहर से वह सोते से जैसे जग गया हो। लगा, कोई दरवाज़े पर धीरे-धीरे थपकी दे रहा है। उसने जाकर धीरे से दरवाज़ा खोल दिया—सामने उसने धुँधले मे पहचाना—सेठ लालचन्द, कपडे के सबसे बडे व्यापारी खडे है। उनपर दृष्टि पडते ही जैसे वह चौक पडा हो। और लगा, अँधेरे मे हँसने वाला प्रकट हो गया है। वह अपने को सँभालकर सेठ का स्वागत करता हुआ अन्दर बुला लेता है। खपरैल के नीचे जाते-जाते सेठ ने अपना शाल कुछ ढीला करते हुए कहा—"ठाकुर साहब,

आप कोई कष्ट न करे। मैं आपकी सेवा मे जिस प्रकार आधी रात मे चुपचाप आया हूँ—आप मेरी बात समझते है।" उनके स्वर की कातरता मे किसी विश्वास की दृढता भी है।

ठाकुर को यह स्वर सदा का परिचित लगता है। एकाएक उनका मन परिस्थिति को ग्रहण कर लेता है और स्वाभाविक रूप से स्वस्थ हो जाता है—जैसे उनमे न कही कोई चिन्ता है और न कोई अस्थिरता ही। उन्होने अपने सहज स्वर मे कहा—"सेठ जी, मै आपकी बात बहुत कुछ समझता हूँ। पर आपने यहाँ आकर जो कष्ट उठाया है, उसके लिए मुझे दुःख है।"

सेठ की विनय मे वही दृढता है—"ठाकुर साहब, मेरी लाज आपके हाथ मे है—मेरी लाखो की साख आपके हाथ मे है।"

ठाकुर ने सहज सकोच से कहा—"देखिये सेठजी, आपकी ओर से एक गलत काम हुआ है। आपने चोर बाज़ार के लिए गाँठे मँगाई थी और उनको पकडना मेरा कर्त्तव्य था। मैं इसके लिए करता ही क्या, आप अन्यथा कुछ न समझें।"

सेठ ने निश्चयात्मक आग्रह से कहा—"ठाकुर साहब, मै आपकी सचाई से स्वय प्रभावित हूँ। इस समय मैं यहाँ उन गाँठो की बचत के लिए नही आया हूँ। मेरी प्रार्थना केवल इतनी है कि आप मेरी इज्ज़त बचा लें।"

ठाकुर को बात रुची नही, उन्होने लापरवाही से उत्तर दिया—"उस ओर से आप निश्चिन्त रहे, केवल आगे आप ऐसा न करे, ऐसा मेरा आग्रह है।"

"आप कहते क्या है ? कल आपकी रिपोर्ट के साथ ही मेरे हथकडी पड सकती है और आप कहते है कि मैं निश्चिन्त रहूँ। दस-पचास हज़ार की गाँठ की चिन्ता लालचन्द नही करते, ठाकुर साहब ! यह तो इज्ज़त

का सवाल है।" सधे हुए खिलाडी के समान सेठ ने अपना दाँव लगाया, उन्होने नोटो की एक गड्डी ठाकुर के सामने रख दी।

ठाकुर अपनी घनी उदासी के अन्दर भी मुसकराये। सेठजी सिहर गये। ठाकुर ने उसी भाव से कहा—"आप व्यर्थ कष्ट न करे सेठजी! रुपयो का बोझ साथ लाकर व्यर्थ खतरा ही उठाया है। मै जानता हूँ आप चुपचाप मुख्य सडक पर अपनी गाडी छोडकर यहाँ तक पैदल आये है और मै यह भी जानता हूँ अभी आपके पास और रुपया भी है। पर सच मानिये, जो मै लिख चुका हूँ, उसमे एक अक्षर भी बदल नही सकूँगा। पर यह भी विश्वास मानिये, आपका कुछ नही होगा।"

सेठजी कुछ देर स्तब्ध रहे। ठाकुर कुछ रुककर कहते है—"मै स्वय जानता हूँ देहात मे कपडे की कमी है, सरकार वहाँ कपडा पहुँचाने का प्रबन्ध नही कर पा रही है। मुक्त व्यापार पर रोक है। पर लोग कपडा बिना रह नही सकते, उनके पास अब रुपया भी है, वे खरीदेगे ही, फिर बेचने वाले भी पैदा होगे। लेकिन हमको सरकार की आज्ञा मान कर चलने का अभ्यास होना चाहिए।"

सेठ जी के लिए यह सब नया है, वे कुछ समझ नही पाते है। वह अपने पास के रुपयो से व्यक्ति के कर्तव्य की तुलना कर सकते है, इसके आगे सोचना-समझना उनके लिए सरल नही है। उन्होने चुपचाप नोटो की दूसरी गड्डी निकालकर सामने रख दी—"अब आप मेरी रक्षा करे!"

ठाकुर ने बीच मे कहा—"मैं कहता हूँ सेठजी, यह व्यर्थ है।"

पैसे के देवता के पुजारी सेठ के विश्वास पर आज पहली बार धक्का लगा। तीसरी गड्डी सामने निकालकर रखते हुए जैसे उन्होने अन्तिम प्रयास किया—"बस ठाकुर साहब, इतना ही लाया था, आप सच मान ले। अब आप मुझे मुक्ति दे!" उनका स्वर कातर हो उठा है।

ठाकुर के लिए यह अपमानकर है। उन्हे आवेश आ गया—"सेठजी, आप पत्थर है, आपके पास निर्जीव पैसे के समान जड हृदय भी है। आप दुनिया की सभी चीज़े उन्ही टुकडो से तोलने के अभ्यस्त है। आप मेरा अधिक अपमान करने का साहस न करे। यदि आदमी का विश्वास कर सको, तो मै कहता हूँ आप अपमान से बच जायेगे।''

हतप्रभ सेठजी ने रुपया उठा लिया। वह हारे-थके वापस लौटे। ठाकुर को लगा जैसे कुछ मन हल्का हो गया हो। अब हँसी नही सुनायी दे रही है। उन्होने थकान की भारी होती नीद मे जँभाई ली, प्रभु-प्रभु!

कई वर्ष बाद। देश स्वतन्त्र हो गया, राजनीतिक कैदी जेलो से छूटे। ठाकुर का लडका भी छूटा, पर वहाँ से आकर उसने अपना टूटा शरीर भी छोड दिया। सप्लाई की नौकरी छूटने के बाद ठाकुर कही नौकरी नही कर सके। उनका एक लडका कही भाग गया, उसका पता नही चल सका, कहते है, बाप उसे पढाने मे असमर्थ था इसलिए। शेष परिवार का बोझ ठाकुर अपने जर्जर शरीर और मन से ढो रहे है। वह किसी से मिलते नही, प्राय बोलते भी नही। टहलते-टहलते उनके पास से जाता हुआ कोई व्यक्ति ध्यान देकर सुन सकता है, वह कभी-कभी जैसे कराह उठते है—प्रभु-प्रभु! उनकी चाल मे अडिग रहने की बात, सीधे चलने की भावना ही व्यक्त होती है।

और दुनिया उसी प्रकार चल रही है। देशी लोग एम० एल० ए० हो गए है और मत्री भी। देशी लोग तरक्की पाकर बडे-से-बडे अफसर हो गए है, अब अपना गवर्नर है और गवर्नर-जनरल भी। चोर-बाजारी अब भी चलती है, बडे-बडे सेठ उसके साहूकार भी है, मिनिस्टर सेठो की दावते भी खाते ही है। और मै कहता हूँ—शैतान अब भी हँस रहा है!

गुलाबी जिज्ञा

"नीली वाले देवरजी, राम राम !"

टाइप किये हुए निबन्ध से दृष्टि ऊपर उठाकर मै विस्मित उल्लास के हल्के आवेग मे कह गया—"अरे सैलानी जीजा, राम राम ! तुम यहाँ !" फिर लगा कि गाढे की मैली धोती और कुरता पहने हुए वह अधेड व्यक्ति कमरे की सज्जा के विरुद्ध अपने को पाकर सकुचित हो रहा है। मैने वातावरण हल्का करते हुए कहा—"आओ बैठो, सैलानी जीजा, बहुत दिनो पर भूल पडे।" उन्होने कमरे के कोने से एक बेत का स्टूल खीचकर सोफे के सामने डाल लिया, और उस पर बैठते हुए कहा—"हाँ नीली वाले बबुआ, आपका दर्शन तो आज पन्द्रह बरस बाद ही मिला।" उनकी घनी खिचडी मूँछो के नीचे परिचित मुस्कान थी। इस बीच मेरा मन सामने फैले हुए निबन्ध से बिल्कुल मुक्ति पा चुका था। 'नीली वाले देवर जी' शब्द जैसे मेरे मन के अतल प्रसार मे पत्थर के टुकडे के समान समा गया और मन के ऊपर-ऊपर तरग की हलकी रेखाएँ वृत्तो मे बढती जा रही थी।

उन दिनो की बात है जब मै नौ-दस वर्ष का रहा हूँगा, मेरे बडे भैया एक बिल्ली लाये थे। उसका नाम था 'नीली', कदाचित् उसकी नीली आँखो के कारण। अनायास ही वह बिल्ली मुझसे बहुत हिल गयी। मैं बैठा होता, वह मेरी गोद मे आ जाती—मै उसे तग भी कम न करता था, पर वह बर्दाश्त कर लेती। और सबसे बडी बात थी कि रात मे जब मैं सोता, तो नीली चुपचाप घुसकर मेरे बिस्तर मे आ जाती। नीली के इस प्यार से मैं प्रसन्न होता था, वैसे गुस्से मे आकर मै उसे पीट भी देता था। इसी को लेकर किसी दिन बडे भैया ने कह दिया—"नीली वाले बबुआ !" और फिर सभी को मेरे लिए एक अच्छा

नाम मिल गया। वैसे इस नाम से मुझे कोई ऐतराज नही था, लेकिन इस नाम के साथ लोगो के हँस देने से मुझे बेहद चिढ थी। और तो और, जब मँझली भाभी, जिनको घर मे आये ही चार दिन हुए थे, वे भी अपनी आँखो मे परिहास की हँसी भरकर दो अँगुलियो से अपना घूँघट तिरछा करके जब कह देती—"नीली वाले देवरजी", तब तो मेरा अस्तित्व ही विद्रोह कर उठता, और उनसे पूरा का पूरा बदला लेने का निश्चय भी कर लेता। उन दिनो उनके अनेक कामो का चर मै ही था, और मुझे लगता था कि उन कामो को मेरे सिवाय कोई अन्य करने मे समर्थ भी नही है। फिर मै तुनक ही जाता। और भाभी मुझे मनाने पर लगती—"मेरे देवरजी, राजा भैया—वह तो मान जाते है। हँसी मे कोई चिढता है!" मै मन ही मन और बिगडता—"पहले तो हँसी उडायेगी और फिर कहेगी कि कोई चिढता है—हाँ हाँ, मैं नही जानता!" फिर भाभी अपने कोमल सुन्दर हाथो से मेरे गालो को थपथपाती और प्यार से चुम्मी ले लेती, तब जाकर मेरा मान समाप्त होता। फिर कही उनके खत छोडने पडते और कही लिफाफे पोस्टकार्ड लाने पडते। और यदि मँझले भैया घर पर होते, तो दूत का काम भी करना पडता। लेकिन काम निकालने के बाद भाभी आँखो मे परिहास लेकर पुकार लेती—"नीली वाले देवरजी!"

आज यह परदेशी अपरिचित परिचय की हल्की छाया धारण किये हुए मुझसे कह गया—"नीली वाले देवर", और मैंने भी अनायास कह दिया, "सैलानी जीजा।" इन नामो मे जो अपने परिहास से सरसता भर देती थी, वे अपने स्नेह की छाया समेट कर ससार से चली गयी है, पर नामो की सार्थकता बनी रह गयी है। मैंने सामने बैठे हुए व्यक्ति को गहराई से देखने का प्रयास करते हुए पूछा—"इधर १२ वर्षों से कहाँ घूमते रहे सैलानी जीजा? इस बार तो बिलकुल खोज-खबर भी

नही दी । बडे भैया कह रहे थे—अब तो मैकू की भी खोज-खबर नही देते ।"

ढले हुए शरीर पर घनी होती हुई थकावट को परिचित खिझाने वाली मुस्कान से ढकते हुए वह बोले—"भैया, अब मैकू अपने हाथ-पाँव का हो गया है, कमाई करता है—बाल-बच्चो वाला है । मौज से है, मेरे लिए उसकी तरफ से यही खुशी है । वह मेरी फिकर मे काहे पडे, इसलिए भइया उसको खत भी नही लिखवाता । हमारी भली चलाई, घूमते फिरते है । पहले खोचा-ओचा लगाकर कमा लेता था, जिससे दस-पाँच रुपया उसके पास भेज सकूँ । और अब बेफिकर हूँ । घूमता तो अब भी हूँ—मन पडता है तो रोजगार भी कर लेता हूँ—नही तो साधु-सन्तो के साथ कट ही जाती है। इधर दक्खिन के तीरथ-बरत करके वापसी है । सो जानो भैया, यह तीरथ-बरत तो नाम का है, हमे तो देश-परदेश घूमने मे ही आनन्द है ।"

मैं देख रहा था, मेरे सामने जो आदमी बैठा है, वह जैसा पहले था, बिल्कुल वैसा ही आज भी है । कही कुछ बदला नही है, केवल समय बदल गया है और उसके चिह्न उसपर प्रत्यक्ष हो उठे है । सुना है, वह एक दिन अपने माँ-बाप से बिगडकर बीस कोस पैदल चलकर एकाएक हमारे गाँव मे पहुँच गया था । इस घुमक्कड के सरल, हँस-मुख, परिहासात्मक स्वभाव को हमारे गाँव ने पसन्द किया था । तभी उसे सैलानी नाम मिला था । तब से उसका सैलानीपन और स्वभाव दोनो ही ज्यो-के-त्यो है । इसी प्रकार १२ वर्ष पहले जब मैं यूनिवर्सिटी का विद्यार्थी था, वह एकाएक मिल गए थे, और तभी यह बताया था कि कलकत्ता, बम्बई, नागपुर, लाहौर न जाने कौन-कौन से मुल्क वह घूम चुके है और वहाँ से मैकू के लिए अपने सालो के पास दस-पाँच रुपया भेजते रहे है । आज वही व्यक्ति निश्चिन्त होकर साधुओ और यात्रियो के साथ समुद्र-पहाड, तीरथ-व्रत करता घूम रहा है, तो भी कोई आश्चर्य नही ।

मै देख रहा था कि साँझ के धुँधले अन्धकार मे चाँदनी हल्की-हल्की घुली जा रही है। मैंने रात मे भोजन के लिए मना कर दिया था, इस लिए नौकर को पुकार कर सचेष्ट किया और उनसे कहा, "सैलानी जीजा, पहले हाथ-मुँह धोकर कुछ खा-पी लो, फिर बाद मे निचिन्त होकर बातचीत होगी।" उन्होने दोनो हाथो के पजे बाँधकर अँगडाई लेकर उठते हुए कहा, "हाँ भैया, यही ठीक है। तब तक तुम भी अपने कागज-पत्तर से छुट्टी ले लो।" उन घनी मूँछो मे परिहास खेल रहा था।

उनके चले जाने के बाद मैं फिर निबन्ध मे ध्यान नही लगा सका। बाहर सीमान्त पर हल्की चाँदनी मे अर्द्धवृत्ताकार रेल की पटरी का बाँध टिमटिमाते नक्षत्रो के नीचे धुँधली छाया के रूप मे चला गया है। मेरा मन अन्तर्मन की गहरी सवेदना मे उछलती हुईं न जाने किन-किन बातो मे उलझ रहा था। सैलानी जीजा को लेकर अनेक सुनी और देखी बाते मन के धरातल पर फैल रही थी। उसी समय सीटी देता हुआ एक इजिन उधर से गुजरा और पीछे घडघड करती मालगाडी के डिब्बे ढुलकते चले जा रहे थे। मै देख रहा था जैसे मेरे मन की बातो मे क्रम चल रहा है।

•

दो समवयस्क लडकियाँ है, एक ही कद की। एक का रग श्याम है, वह सफेद धोती पहने है, उसका सिर खुला है। दूसरी का रग गेहुँआ है, वह पीला लहँगा पहने है और उसका सिर गुलाबी ओढनी से ढका है। दोनो के रूप मे काफी समानता है। केवल दूसरी की आँखे कुछ बडी है। उसकी आँखो मे आँसू डबडबा आये है और वह सिसकियाँ ले रही है। उसी समय कुछ ऊँचे कद और गोरे रग की एक स्त्री आ गई, उसने पहली लडकी से क्रुद्ध स्वर मे पूछा,—"रम्मी, क्या बात है? गुलाब से तूने क्या कह दिया?" पहली लडकी ने शकित होकर भारी स्वर मे जवाब दिया—"तो फिर क्यो···मेरी बराबरी क्यो करती है?"

स्त्री ने तेज स्वर मे कहा, "और तू कौन है, जो तेरी कोई बराबरी करेगा ? बडी आयी है बन के । रूप की, न गुन की, आखिर तेरी बराबरी कोई करेगा क्या ? पहले तू तो हो ले गुलाब के बराबर।" स्त्री ने प्यार से गुलाब की ठुड्डी छूकर कहा, "रोते नही गुलाब, तू तो मेरी बडी अच्छी बेटी है। अब बिट्टन ने तुझे कुछ कहा तो उसे मैं घर से निकाल दूँगी।" गुलाब अपनी डबडबायी आँखो मे भी सकुचित हो उठती है और सिसकते हुए कहती है, "नही अम्मा, रम्मी मुझे कुछ नही कहती।"

जिसे माँ गुलाब कहती है, उसे और सब गुलाबा कहते है। यह उसका घर का नाम है। वह हमारे परिवार की बडी हवेली के पास के घर के कहारो की लडकी है। ऐसे कई छोटे-छोटे मकान हवेली के मालिक के नौकरो के रहने के लिए है। गुलाबा के माँ-बाप नही है, वह अपने बडे भाई मूला और छोटे भाई दूजा के साथ रहती है। पर यह रहना नाम को है, वैसे वह माँ के पास ही अधिक रहती है। परिवार की लडकी रम्मी-बिट्टन के साथ उसका बहनापा है। वह उससे बडी है, इसलिए रम्मी को उसे गुलाबा जिआ कहना होता है। यह उस युग की विशेषता थी कि घर के नौकरो को पारिवारिक सबोधनो से पुकारना होता था। बडे भैया को छोडकर सभी भाइयो को मूला को मूलादादा और गुलाबा को गुलाबा जिआ कहकर पुकारना होता है और भूल करने पर माँ की डाँट सहनी पडती। यह केवल पुकारने की बात हो ऐसा नही, हमारे सभी व्यवहार भी इसी प्रकार रहते थे। हम सब भाई गुलाबा जिआ और रम्मी जीजी मे भेद नही करते थे, वह वातावरण ही ऐसा था।

गुलाब जिआ माँ के साथ ही बढती रही। पूजा-पाठ से लेकर कढाई-बुनाई आदि सभी कामो मे माँ का हाथ रम्मी जीजी से गुलाबा जिआ अधिक बँटाती थी। जीजी का समय स्कूल मे बीतता और शेष मे से बहुत-कुछ भाइयो के साथ खेलने और झगडने मे बीत जाता। पर जिआ छाया के समान माँ के साथ रहती। माँ की पूजा की व्यवस्था जिआ

ही करती, किसी अन्य के करने पर माँ को भाता ही नही। कही कपूर नही, कही दियासलाई नही, कही घिसा चन्दन नही, कही अच्छत नही, कौन हाय-हाय करे! और फिर माँ का 'रामचरितमानस' का पाठ जिश्रा जैसी भक्ति-भावना से कौन सुनता! जीजी और मँझले भैया से माँ कहती कि बँधे-बँधे सुनने से न सुनना अच्छा है। जिश्रा जैसा मुग्ध-तन्मय श्रोता पाकर माँ को तृप्ति मिलती और हम भाई-बहिनो को मुक्ति। इसके बाद दिन भर और रात के नौ बजे तक माँ के नाना प्रकार के सिलाई-बुनाई, नाश्ता पानी आदि के जो आयोजन निरन्तर चलते रहते, उनमे जिश्रा ही उनकी सबसे बडी सहयोगी रहती। यही कारण था कि यदि माँ किसी की मुक्त-कठ से प्रशसा कर पाती थी तो 'अपनी गुलाब' की। वरना हम भाई-बहिनो के भाग्य मे कहाँ बदी थी वह प्रशसा! यहाँ तो उनकी डाँट से ही बचते तो समझते बहुत हुआ।

माँ की कृपाभाजन होकर भी जिश्रा हम सबकी ईर्ष्या का विषय नही थी, यह विशेष बात थी। रम्मी जीजी को उनकी तुलना मे माँ दिन मे दस बार निकम्मी सिद्ध करती, पर जीजी झुँझलाकर भी गुलाबा जिश्रा से रुष्ट नही हो पाती। जिश्रा के तरल प्यार और निरीह सरल-स्वभाव से परास्त होकर हम सब उनसे बँधे हुए थे। उनका प्यार हम सब पर इस प्रकार बिखरा रहता कि माँ की डाँट तो हम सहज ही सह लेते। जीजी की गुडियो के ब्याह-उत्सव और दावते गुलाबा जिश्रा के सहयोग के बिना चल नही सकती थी। भाइयो की पिकनिके और साथियो की दावते भी जिश्रा की सहायता पर निर्भर रहती। अन्यथा माँ के कठोर और सयत शासन मे इस सब 'ऊधमबाजी' के लिए कहाँ अवसर था! और सबसे बडी बात थी, गुलाबा जिश्रा यदि हम सबके लिए चुपचाप कुछ आयोजन कर देती, तो माँ जानकर भी उनको कभी नही डाँटती। उनसे केवल इतना ही कहती, "गुलाब, देखो तुम इन सबकी आदत बिगाडती हो।" और उलटी डाँट हम सब पर पडती, "तुम सब निपट दुष्ट हो; उसे सीधी जानकर ठगते रहते हो। आगे फिर कभी यह ऊधमबाजी की तो मैं

समझूँगी ।" लेकिन यह सब यो ही चलता रहा । आज तो लगता है, माँ ने ही अपनी कोमलता जिआ को दे रखी थी, और गुलाबा जिआ के माध्यम से वे स्वय हमारी उच्छृखलताओ को सहती रहती थी ।

यदि छोटे भैया ने अपनी किताब खो दी है और माँ से कहने की उनकी हिम्मत नही पडती, तो फिर समस्या का हल कैसे हो ? बडे भैया घर पर रहते नही, मँझले भैया उन्ही के पास पढते है—कभी-कभी ही आते है । बडी भाभी की कहाँ हिम्मत कि माँ से कुछ कहे और अपने पास से मँगवा देना तो माँ की निगाह मे अक्षम्य अपराध ही था । फिर क्या हो, छोटे भैया की कौन सहायता करे ? हमारे यहाँ लडको को पैसा देने का रिवाज नही था, माँ इसके सख्त खिलाफ थी । वे स्कूल मे नाश्ता भेजवाने की परेशानी सह लेती थी । ऐसे आडे समय गुलाबा जिआ ही काम आती । छोटे भैया जाकर गुलाबा जिआ के कधे के सहारे खडे हो जाते है—और पूजा का सामान ठीक करने मे व्यस्त जिआ अपने बाये हाथ से उनका हाथ दबाकर पूछ लेती है—"क्या हुआ रवी ?" वह अपने काम मे व्यस्त रहती हैं और छोटे भैया उनके दुपट्टे के आँचल को खीचते खडे रहते है । फिर जब काम समाप्त हो जाता है, वे कधे पर हाथ रखकर सहज स्नेह से पूछती है—"क्या बात है, मेरे भैया को किसी ने कुछ कहा है ?" छोटे भैया का मुँह और कातर हो उठता । वह अभिनय करने मे छुटपन से ही प्रवीण थे । जिआ भाव-विह्वल हो उनको अपनी गोद मे बिठाकर गाल थपथपाती हुई पूछती—"मेरा भैया, अच्छा तुम मेरे कान मे बता दो ।" फिर छोटे भैया उनके कान के पास मुँह ले जाकर धीरे-धीरे बहाना बनाते है—"जिआ मेरी किताब किसी ने स्कूल मे चुरा ली है, मास्टर साहब मुझे मारेगे ।" बस, इतनी-सी बात, जिआ का तो यह नित्य का काम है, वे तो हम लोगो की मध्यस्थ ही ठहरी । फिर उसी समय माँ पूजा पर आती है, छोटे भैया वहाँ से छू हो जाते हैं । आसन पर बैठती हुई माँ से गुलाबा जिआ कह देती है—"अम्मा, पूजा पर बैठने से पहले एक रुपया दे दो ।" अम्मा अनायास

ही कह जाती—"मेरे पानदान की बीच की डिब्बी मे रुपया पडा होगा, '''पर यह रुपया होगा क्या, किसकी फरमाइश है ?" माँ जैसे सतर्क होती है। जिग्रा यह कहते हुए चल पडती है—"ग्ररे ग्रम्मा, रवी बेचारा छोटा है, उसकी किताब किसी दुष्ट लडके ने चुरा ली। ग्रौर ये मास्टर कुछ देखते भी नही, ग्राप उनसे कहला भी नही देती। ग्रभी ग्रायी ग्रम्मा।" ग्रौर फिर माँ की बातो पर ध्यान दिये बिना जिग्रा चली जाती, माँ कहती-रहती—"ग्ररे कौन रवी, वह तो निरा धूर्त है। तू उसे सीधा जानती है'''मै कहती हूँ नही दिया जायगा उसे रुपया-उपया।" लेकिन यह सब तो जिग्रा लौट कर ही सुन सकेगी। फिर लौट कर वे सीधे सहज भाव से कहती है—"ग्रम्मा, पूजा मे ग्रबेर हो रही है।" जैसे कुछ बात हुई ही नही।

धीरे-धीरे माँ की छाया मे गुलाबा जिग्रा सोलह वर्ष से ग्रधिक की हो गई थी। उनकी जाति मे इतनी उम्र तक की लडकी का कुँग्रारी रहना ग्रक्षम्य माना जाता है। ग्रौर जाति-बिरादरी वालो मे काना-फूसी भी होने लगी थी। लेकिन माँ की गुलाब को कोई कुछ कहे, यह माँ के सम्मान के प्रति खुला विद्रोह होना। ग्रौर हमारे गाँव मे यह सम्भव नही था। धीरे-धीरे मूलादादा भी गुलाबा के विवाह के लिए चिन्तित ग्रौर उद्विग्न हो उठे, उन्होने माँ से एक दिन दबी जवान से कहा भी। माँ ने निश्चल स्वर मे कह दिया—"ग्ररे मूला भैया, तुम कहते क्या हो! विवाह तो करना है ग्रौर होगा ही। लेकिन तुमने कोई लायक लडका ढूँढा ? ऐसे-वैसे से तो मै गुलाब की शादी करने से रही। तुम क्यो चिन्तित होते हो भैया, गुलाब की शादी तो मै करूँगी ग्रौर मैं कौन हूँ भैया, सब दीनबन्धु पार लगाते है।" माँ ने ग्राकाश की ग्रोर ग्रदृश्य प्रभु के हाथ जोड लिये, ग्रौर फिर बात दो तीन मास के लिए टल गयी।

इसी बीच सैलानी का आना हुआ हमारे गाँव मे। सैलानी का पहला नाम क्या था, याद नही और यह नाम पहले-पहल किसने दिया यह भी कुछ निश्चित नही। हम तो सैलानी के स्वभाव और नाम से इसी रूप मे परिचित रहे है। वह अपने सौतेले बाप से लडकर इतनी दूर हमारे गाँव आये थे। अपनी जाति-बिरादरी का जान कर मूला दादा ने अपने छोटे भाई दूजा के विरोध करने पर भी उन्हे आश्रय दे दिया। शीघ्र ही सैलानी ने माँ से भी परिचय कर लिया था। माँ उनके स्वाभिमानी स्वभाव को पसन्द करती थी, पर सैलानीपन से खिचती थी। उनके स्वभाव मे और बातचीत मे ऐसा कुछ आकर्षण था, जो सभी को अपनी ओर खीचता था। उनसे बालक-बूढे सभी प्रसन्न थे। हाँ, रम्मी जीजी और गुलाबा जिआ अवश्य उनकी गप-शप से कुछ चिढती थी। उन्ही दिनो मँझले भैया छुट्टियो मे घर आये तो सैलानी उनको खूब भा गये—उनकी गप-शप और उनका घुमक्कड स्वभाव भैया ने बेहद पसन्द किया। एक दिन रात मे वे माँ से सैलानी की खूब तारीफ कर रहे थे, इस पर जीजी ने भृकुटी चढाकर कहा—"हाँ तुम्हे क्यो न भायेगे, पढना-लिखना तो कुछ है नही, केवल गप्पे मारना और घमना।" इस पर पास ही पान लगाती हुई गुलाबा जिआ ने भी जीजी का साथ दिया—"तुम भी मँझले, किसकी तारीफ करने बैठे! ऐसे निखट्टू स्वभाव का आदमी तो मैंने देखा ही नही।" अब छोटे भैया, जो मेरे पास माँ के लिहाफ मे मुँह ढाँप कर सब सुन रहे थे, मुँह निकाल कर बोल उठे—"अम्मा, इसी निखट्टू से इनको ब्याह दो, कैसे अच्छे तो है सैलानी, बडी आयी निखट्टू कहने वाली।" माँ कुछ ध्यान लगाकर सोच रही थी, उन्होने यह सब ऊधम रोकना चाहा—"आखिर यह सब पचायत करने को तुम सबसे किसने कहा? मैं तो हैरान हूँ, ये लडके दिन पर दिन शैतान होते जाते है—पढना लिखना तो है नही।" फिर सब धीरे-धीरे खिसक गये। जीजी और मँझले भैया पढने के कमरे मे

चले गये, छोटे भैया रजाई मे घुस गये, और गुलाबा जिम्रा तो पहले ही पिताजी को पान देने चली गयी थी।

दो-चार दिन बाद ही यह स्पष्ट हो गया कि माँ ने सैलानी और गुलाबा जिम्रा के विवाह की स्वीकृति दे दी है। परिवार मे उत्साह था, छोटे भैया को अपने सुझाव पर गर्व था और उसका सारा श्रेय अपने ऊपर लेना चाहते थे, यद्यपि उस दिन उन्होने चिढकर ही ऐसा कहा था। बाद मे सबके सामने वे अपनी बात की घोषणा करते न थकते थे। गुलाबा जिम्रा ने उनको धमकाया भी, पर एक तो उनसे कोई वैसे भी नही डरता था, फिर अब कौन सुनता है! बडी भाभी और रम्मी जीजी भी उनसे परिहास करती, अब अम्मा का आश्रय लेने के अतिरिक्त उनके पास कोई चारा नही था। लेकिन आक्रोश और खीझ के बीच भी ऐसा नही लगता था कि वे अप्रसन्न हैं।

विवाह हो गया...और सैलानी हमारे जीजा हो गये। अब नव-दम्पती को फुलवाडी का नया मकान मिल गया, और सैलानी ने मूला दादा के साथ ही अपना काम-धाम शुरू कर दिया। गाँव मे कहारो के प्रमुख कामो मे पानी भरना, डोली ढोना, मछली मारना और सिघाडे की बेल डालना है। इनमे से पहले दो काम सैलानी के वश के नही थे। अन्य कामो मे वे मूला दादा का हाथ बँटाते थे, पर लोग यही कहते थे कि काम मे उनका सैलानीपन ही अधिक रहता है। हाँ, उनकी रुचि के कामो मे था लइया और पट्टी का खोचा, लेकिन वह काम भी वह लग के नही कर सकते थे। गुलाबा जिम्रा मे तो कुछ विशेष परि-वर्तन हुआ नही, वह पहले के समान माँ के कामो मे हाथ बँटाती रहती। जब सैलानी जीजा घर मे आते, वह एक कोने मे दबक जाती, और उनके बाहर होते ही पूर्ववत् सब काम चलने लगता।

इसी प्रकार समय बीतता जा रहा था। फिर किसी प्रसग को लेकर

मूला की बहू और सैलानी मे कहा-सुनी हो गयी । सैलानी समझते थे कि वह जितना भी काम कर सके पर्याप्त है, मूला की बहू का कहना था कि जब सब खाना बराबर खाते है तो काम भी बराबर ही करना चाहिए। इसी प्रसग को लेकर सैलानी जीजा एक दिन जैसे एका-एक आये थे, वैसे ही चले भी गये। इस बात से माँ को बहुत दुःख हुआ, और मूला की बहू को वे फिर शायद कभी क्षमा नही कर सकी । जो हो गया था, सो हो ही गया । इतनी बडी घटना के हो जाने पर भी गुलाबा जिआ मे कोई अन्तर दिखायी नही दिया । वे फिर अपने भाइयो के साथ रहने लगी—और माँ को लेकर उनका कार्यक्रम तो निश्चित ही था।

फिर वर्ष पर वर्ष बीतते गये। समय के साथ परिस्थितियाँ भी बदलती गयी । अब मँझले भैया भी नौकर हो गये थे और मँझली भाभी आ गई थी। रम्मी जीजी का विवाह हो गया और वे अपनी ससुराल ही अधिक रहती थी । बडी भाभी अब बडे भैया के साथ रहने लगी थी । छोटे भैया पढने के लिए शहर चले गये थे । घर में बच्चो मे मैं ही था । लेकिन हमारी मँझली भाभी परिहास-प्रिय थी, और उनकी हँसी से घर मे काफी चहल पहल रहती। गुलाबा जिआ और मँझली भाभी मे मित्रता थी और भाभी उनसे अक्सर मज़ाक करती रहती थी । गुलाबा जिआ को लेकर उनके परिवार मे धीरे-धीरे असतोष बढता जाता था। उनके भाइयो का और सबसे अधिक उनकी भौजाइयो का कहना था कि गुलाबा जिआ को किसी के बैठ जाना(दूसरी शादी)चाहिए। पर जिआ ने किसी ओर आँख भी नही उठायी । मूला दादा ने अवसर पाकर माँ से कहा भी—"अम्मा, ऐसे तो बिरादरी वालो मे बदनामी होती है।" माँ ने उनको आडे हाथो लिया—"वाह, यह खूब ! कोई बदनामी वाला काम करेगा, या वैसे ही। उसका जी चाहे न चाहे, कहने भर से किसी के गले लग जाय,

श्रौर यह बडी नेकनामी की बात होगी !" इसके श्रागे किसी की क्या हिम्मत, जो माँ से तर्क कर सके। फिर माँ ने जैसे कुछ सोचा-समझा श्रौर गुलाबा जिश्रा को एकान्त मे बुलाकर समझाया—"बेटी गुलाब, देखो तुम बडी हो, समझदार हो। सैलानी का क्या कहा जाय, उसे समझने मे हमने बडी भूल की। लेकिन तू कब तक उसके नाम पर बैठी रहेगी ?" जिश्रा की बडी-बडी श्राँखो मे ज्वार श्रा गया, उनकी भावना का बाँध जैसे किसी श्राघात से टूट गया। वे रो पडी श्रौर रोती ही रही। माँ ने बहुत प्यार-दुलार से उन्हे समझा पाया। उसके बाद माँ ने समझ लिया, जो होना था सो हो गया, श्रब श्रागे कुछ नही हो सकता।

हमारी मँझली भाभी की हँसी विकट थी। उनको परिहास के लिए कुछ मिलना ही चाहिए। वे निश्छल थी, पर परिहास के श्रावेग मे कुछ भी कह जाना उनके लिए सहज था। एक दिन उन्होने जिश्रा से कहा,—"जीजी, यह वेणी कब तक धारण किये रहोगी ? सैलानी जीजा ने विदेश मे तो दूसरी जीजी रख ली होगी, फिर तुम्ही क्यो उनका नाम जपा करोगी ?" वैसे जिश्रा कम हँसमुख नही थी, पर यह प्रसग उनके लिए मार्मिक था, वे रो पडी। इत्तिफाक से उसी समय उधर माँ श्रा गईं। भाभी ने श्रपनी सफाई दी—"श्रम्माजी, मैंने तो मजाक किया था।" "-श्रच्छा, यह हिम्मत ! मैं कहे देती हूँ, श्रगर किसी ने मेरी गुलाबा को कभी कुछ कहा तो मैं उसे घर से निकाल कर ही दम लूँगी। मैं सब को सुनाकर कहे देती हूँ · गुलाब किसी का दिया नही खाती, फिर उसे कोई कहने वाला कौन ? मेरे जीते-जी · · ।" माँ बडबडाती चली गई। मँझली भाभी के लिए यह श्रधिक था, वे रो पडी, फिर उल्टे गुलाबा जिया को भाभी को समझाना श्रौर मनाना पडा। भाभा के इस मजाक का परिणाम श्रच्छा ही हुश्रा, क्योकि माँ की डाँट के प्रभाव से जिश्रा की भौजाइयो का मुँह बन्द हो गया। माँ की चेतावनी की श्रवहेलना करने की हिम्मत उनमे नही थी।

लेकिन मँझली भाभी और जिया मे सरल परिहास चलता रहता। भाभी कहती—"जीजी, तुम इसी प्रकार प्रतीक्षा करती रहोगी, सैलानी जीजा की ?" जिया सहज भोलेपन से कहती—"मै कब किसकी बाट जोहती हूँ रानी। जिसको आना होगा आयेगा, न आना होगा न सही।" भाभी उनका हाथ पकडकर कहती—"झूठ क्यो बोलती हो जीजी ! तुम जो नित्य-नियम से अम्माजी का पाठ सुनती हो, सो क्या व्यर्थ ही ?" जिया सकुचित हो उठती—"और रानी, तुम जो मॅझले की प्रतीक्षा करती हो ?" भाभी उँह करके कहती—"बडे आये, मेरी क्या गरज पडी है, वे आप दोडे आते है।" जिया मुसकराकर कहती—"हाँ आते क्यो नही है—और जो नित्य खत छुडवाने के लिए खुशामद होती है, सो ?" इसी प्रकार दोनो मे चलती, कोई हार नही मानता, एक अल्हड प्रश्न है तो दूसरी सरल उत्तर।

फिर एक दिन किसी ने आकर सूचना दी कि सैलानी जीजा आये है। पहले तो किसी ने विश्वास नही किया, बाद मे जब उसने वादा किया कि वह उन्हे बुला ला सकता है, तब जाकर विश्वास किया गया। माँ बहुत रुष्ट थी, पर मन से प्रसन्न भी। जिया के सकोच का पार न था, भाभी चिढा रही थी। अन्त मे सैलानी जीजा अपनी बडी-बडी मूँछो मे मुस्कराते हुए आ गए, उनके साथ ही घर मे उत्साह छा गया। दो-तीन दिन तो अनायास ही बीत गए। गाँव-भर के लडके, बूढे, जवान सब सैलानी जीजा की परदेश-यात्रा की रोचक कथाओ से मुग्ध हो गए। लेकिन साथ ही यह भी सुनायी देने लगा कि इस बार सैलानी जीजा अपने साथ जिया को भी ले जायेगे, और यह बात हम लोगो के लिए असह्य थी। माँ चाहती थी कि सैलानी यही अपना स्वतन्त्र काम-धाम शुरू करे, रुपये-पैसे का प्रबन्ध वे करने को तैयार थी। पर सैलानी नम्रतापूर्वक यही उत्तर देते थे—"माँ, लडको को अपने पौरुष पर खडे

होने योग्य बनाना ही बडो का धर्म है, वैसे हम आपके दर्शन के लिए तो आते-जाते रहेगे ही।" इस पर माँ गम्भीर हो गई, वे अपने कष्ट और विवशता को ऐसे ही सहती थी।

जाने के दिन मँझली भाभी थोडा-सा घूघट खीचकर उनके सामने आयी और परिहास-मिश्रित स्वर मे बोली—"सैलानी जीजा, जीजी ने तुम्हारे लिए बहुत तपस्या की है, उन्हे सँभाल कर रखना।" सैलानी जीजा ने हँसकर उत्तर दिया—"बहूरानी, तुम अपनी जीजी की बात तो कहोगी, लेकिन मेरी बात नही कहोगी, मै परदेश मे एक क्या दो रख सकता था, तुम्हारी जीजी जैसी।"

भाभी ने जैसे बुरा माना—"सैलानी जीजा, औरत पाना बडी बात नही है, लेकिन हमारी जीजी जैसी देवी पाने के लिए जन्म-जन्म का पुण्य चाहिए।" इसका उत्तर सैलानी नही दे सके, वे मौन हो गए। जैसे उनकी आँखे कुछ गीली-सी थी। इसके बाद गुलाबा जिम्रा सैलानी के साथ चली गयी। जाते समय वे सभी को लिपट कर रोयी थी। माँ को तो वह किसी तरह छोडती ही न थी। माँ ने बडी कठिनाई से यह कह कर बिदा दी थी—"गुलाबा, बेटियाँ तो अपने घर की ही होती है, हमारा धर्म तो उनको पाल-पोस कर बडा कर देना है।"

इसके बाद मैं अपनी पढाई-लिखाई के बीच सुनता रहा कि गुलाबा जिम्रा को वहाँ बहुत कष्ट है। सैलानी कमाते-धमाते नही, केवल उन्हे शराब-गाँजा पीकर तग करते है। फिर सुना गया कि वे बीमार है और बहुत बीमार है—उनके एक लडका हुआ है। सैलानी उनकी बिल्कुल परवाह नही करते। अन्त मे एक दिन सुना गया कि गुलाबा जिम्रा नही रही और लडके को लेकर सैलानी उस शहर से कही चले गए है। इन सब बातो का प्रभाव माँ पर अधिक पडता था, और माँ के मन का कष्ट उनकी पूजा की अव्यवस्था को लेकर समझा जा सकता था। धीरे-धीरे

उनकी पूजा मुखर से मौन होती जाती थी, और अन्त मे गुलाबा जिजा की मृत्यु का समाचार पाने के बाद माँ केवल मौन पाठ करने लगी। पूजा का सारा आयोजन समाप्त हो गया।

अगले वर्ष मै उसी शहर मे पढने के लिए गया, क्योकि मँझले भैया की वहाँ बदली हो गयी थी। वहाँ मैंने सैलानी जीजा के पुराने पडौसियो से जो समाचार पाया, वह जो सुना करता था उससे बहुत भिन्न था। पडौसियो का कहना था—सैलानी आदमी हजार मे एक था, उसमे खाली एक ऐब था, वह हेकड अधिक था। इसलिए नौकरी-चाकरी उसके बस की नही थी। भैया, नौकरी मे तो दबकर चलना होता है। सच-झूठ दस बाते सुननी पडती है। सैलानी के इसी स्वभाव के कारण किसी मालिक से उसकी नही बन सकी। और रोजगार भी उस जैसे स्वभाव के आदमी से नही चलता। उसमे तो दिन-रात एक-एक करके पैसा मिलता है। और वह ठहरा मौजी आदमी, कभी खोचा उठाया और कभी गप-शप मे दिन पार कर दिया। और फिर भैया, उसके जैसा आँखो का शील भी रोज़गारी मे नही चाहिए। किसी गरीब का लडका उसके खोचे के पास खडा रहे और ललचायी आँखो से देखता रहे और वह एक पत्ते पर पकौडी या आलू-मटर न दे, यह उससे नही हो सकता था। फिर ऐसे कही रोज़गार चलता है! अपनी औरत को मनाने मे उस जैसा आदमी तो कही देखा नही गया ...फिर औरत भी साक्षात् देवी थी, मोहल्ले-भर की सेवा जैसे उसका काम ही हो। क्या कहा भैया, शराब-गाँजा-चरस की बात? सो तो निरी झूठ है। कभी किसी सगी साथी के साथ बैठ कर खा पी ली हो तो दूसरी बात; लेकिन उसकी आदत बुरी नही थी। हाँ जब उसकी औरत के बाल-बच्चा होने वाला था, उस समय उसका हाथ बिल्कुल खाली था, फिर भी बीमारी मे उसने सेवा और दवा मे कुछ उठा नही रखा। रात-रात जागता था, बच्चे को अलग सँभालता था। लेकिन भगवान् के आगे किसकी चलती है!

इस बात के दस-बारह वर्ष बाद सैलानी जीजा से एक बार भेट हुई थी, जब मै विद्यालय का विद्यार्थी था।

वृत्ताकार रेलवे लाइन चाँदनी मे साफ चमक उठी और उस पर अपर इडिया गुजर रही थी। मै डेढ घटे से ऐसा ही बैठा, न जाने किन बीती, देखी और सुनी बातो को जोडता रहा था। उसी समय सैलानी जीजा खा-पीकर आ गए, उन्होने हँसते हुए कहा—"भैया, अब तो तुम्हारा काम-काज पूरा हुआ होगा। अब तो आप बडे आदमी हो गए है। हमने तो मेला के भोपू पर नाम सुना और बडी मुसीबत से वहाँ आपका पता-ठिकाना मिला।" मैंने समझाया—"हाँ, मुझे एक भाषण देना था मेला वालो के लिए। अब तो दो-चार दिन यहाँ रहना होगा।"

उन्होने कुछ गहरे भाव से कहा—"नही भैया, रहता तो, लेकिन जिस जमात के साथ हम है, वह कल ही प्रस्थान करेगी। वैसे तो हम उनके साथ की परवाह नही करते, पर दो बरस से उनके साथ रहे है और इसी गरमी मे बदरीनाथ की यात्रा का विचार है। सो साथ अच्छा है। सब ओर तो घूम चुके, अब पहाड भी देख ले तो अच्छा है, और बदरीनाथ के दर्शन भी हो जायेगे। एक पथ दुइ काज!"

"अच्छा, तो अब भगवान् के भक्त हो गए हैं!" मैंने हल्के भाव से कहा।

"अरे नही भैया! यह सब कुछ नही। हम तो सैलानी ठहरे, हाँ दर्शन भी हो जायेगे। लेकिन भगती-वगती अब हमसे क्या होगी!" कुछ देर चुप रह कर उन्होने पूछा—"और सब अच्छे है?"

"हाँ, बडे भैया तो अब घर पर ही है। और सब राजी खुशी है। मँझले और छोटे भैया अपने परिवार के साथ अपनी नौकरी पर है। बडे भैया से मैकू का हाल मिला था, वह भी मज़े मे है। लडके-बाले है, खेती-बारी करता है, ताल का भी ठेका लेता है। जीजा, वह तो रुपये वाला हो गया है। न हो, बुढापे के कुछ दिन उसी के पास बिताओ।"

उन्होने निस्पृह उदासीनता से उत्तर दिया—"अरे भैया, किसकी बात करते हो ! मेरी तो इसी तरह बहुत कटी और थोडी रह गई है, वह भी बीत जायगी। अच्छा भैया, रम्मी बिट्टन के यहाँ का क्या हाल-चाल है ? हम तो पिछले वर्ष उनके शहर पहुँचे थे, और चाहते तो भैया के नाम से पता चला लेते······लेकिन बिट्टन के सामने हमसे जाते न बना, तुम जानो बिट्टन को देखकर तो तुम्हारी जिआ जैसे परतच्छ हो उठती है।" उनके स्वर मे भारीपन था।

मेरा मन भी भर आया—"सैलानी जीजा, अब कहाँ है जीजी ! तीन वर्ष हुए, जीजी ने हम सबको सदा के लिए छोड दिया।"

उनको जैसे अपने-आप मे आश्चर्य हुआ—"रम्मी नही रही ?" फिर खोये-खोये से वह बाहर शून्य मे कुछ देखते रहे। उसके बाद एक गहरी साँस लेकर उन्होने कहा—"अब तो भैया को और लडको को बहुत तकलीफ होगी—नौकर-चाकर से वह बात कहाँ ?"

"इसी से दो वर्ष हुए, जीजा ने दूसरी शादी कर ली। उनका कहना था कि घर को कौन सँभाले।" मैंने उदासीन भाव से बताया। सैलानी जैसे स्तब्ध रह गए—"भैया ने इस उमर मे भी ब्याह कर लिया ?" फिर कुछ गहरी साँस खीच कर व्यंग की मुस्कान के साथ उन्होने कहा—"हाँ भइया ठीक है। बडे आदमी है, बडी घर-गृहस्थी है। लेकिन भैया, ई तो हिया की बात है—जाके जैसी हिया मे लागे।"

उसके बाद बातचीत अधिक नही बढ सकी। वह राम-राम कर मेले के लिए चल पडे। मैंने देखा कि एक हल्के-से बादल के टुकडे ने चाँद को छिपा लिया। रेलवे लाइन की हल्की धूमिल सीमान्त रेखा पर लखनऊ पैसेंजर प्रकाश के दीपक चमकाती हुई गुज़र गई। उसके बाद से मेरे मन मे जीजी से बार-बार सुनी हुई माँ की यह बात स्पष्ट होकर फैल रही थी—"आखिर तेरी बराबरी कोई करेगा क्यो रम्मी ! पहले तू गुलाब के बराबर तो हो ले !"

जीवन का दान

अँधेरी रात है। चारो ओर बिजली के बल्ब भी किसी उदासी मे चुप है, और पार्क का कोमल सौन्दर्य हल्के अँधेरे मे सोया हुआ है। पेड के झुरमुट, लान, फूलो की क्यारियाँ और रविशे· ···सब धुँधली-धुँधली छायाओ मे व्यस्त है। और खोये-खोये से न जाने कितने कोमल फूल अपने स्वप्नो मे लीन है। कहाँ नस्टेशियन अपनी पलको मे स्वप्न पाल रहा है ? किधर पैंजी अपने तितली जैसे पखो पर स्वप्न-लोक मे घूम रहा है ? किस ओर फ्लाक्स की क्यारियो मे तारालोक का स्वप्न उतर आया है ? आभास-सा मिलता है—प्रत्यक्ष नही होता। इधर-उधर केना और गुलाब के गुल्म जरूर उदास से खडे है, जैसे उन्हे किसी ने बरबस जगा दिया है और वे अपने ख्वाब भूल गए है।

पार्क की इस स्वप्नो से धुँधली दुनिया से घिरा एक युवक बेच पर बैठा है—अँधेरे मे उसके सफेद कपडे चमक रहे है। वह बैठा है, चुप-चाप ···हथेली पर उसकी ठुड्ढी टिकी हुई है। कभी वह चमकते हुए आकाश के तारे देख लेता है और कभी सामने पार्क के बीच मे खडे हुए अकेले उदास पाम पर अपना ध्यान ले जाता है। फिर वह अपने-आप मे खो जाता है।

उसके मन मे विचारो की लहरे बन-बन कर मिट रही है। इन्ही लहरो मे ओझल होता एक चित्र भी मिला-जुला है—"जैसे कोई रुकता है, थमता है, हिचकता है, सकुचित होता है और लाज छोडकर हाथ आगे पसार देता है—इस फैले हुए हाथ पर आँखो के शील सकोच की छाया पड रही है और माँगने वाला न जाने कितना बल लगा कर कह देता है—'दे बाबा !' सामने दूसरा खडा है—खीझता हुआ झुँझलाया-सा, नीचे के हाथ के सकोच से लजाया-सा वह आगे हाथ बढा देता है। और

धीरे स्वर मे कह जाता है—'ले भाई !' चित्र उभरते उभरते लहरो में खो गया और लहरे फैलती जाती है ।—'जीवन अदेय है, जीवन मे दीनता कैसी ! जीवन किसी का हाथ पकडे, पर किसी के सामने हाथ पसारे क्यो ! प्रवाह—गतिमय प्रवाह · ऐसा ही तो लगता है । जान पडता है सरिता अनजान बह रही है, उसमे रुकने-थमने की बात उठती नही, फिर उठेगी कैसे ?"

'······और ··· दो धाराएँ आपस मे मिलती है—फिर एक रस, एक-गति और एक-धार होकर आगे बढ जाती है । इनमे कौन किसे देता है और कौन किससे लेता है—यह कौन कहेगा · साक्षी कौन होगा ! दो सरिताएँ मिलकर प्रवाह नही रहता, ऐसा भी कौन कहेगा ! सगम से लौट कर आज तक किसने कहा कि मैने देखा है—यमुना रुकी थी—मैने अपनी आँखो गगा को थमते देखा है ? कभी एक क्षण भी दोनो का प्रवाह रुका है—फिर कैसे कहा जाय, किसने किसको दिया ? जीवन का प्रवाह—और वह मनहर ।'

युवक बेंच पर उसी प्रकार बैठा है—और सामने पाम का पेड पार्क के बीच मे अकेला उदास उसी प्रकार खडा है—घनी काली छाया के आकार मे । उदासी युवक के मन पर घनी होती जाती है—जीवन के अतीत क्षण भारी होकर उसके मन को बोझिल कर रहे है । चर्च का घण्टा घन-घन बजता है और ध्वनियाँ उसके मन मे धँसती जाती हैं—और गहरी अनुभूति वन जाती है । लेकिन उसमे तीव्रता नही है—छाया जैसी धुँधली याद-सी ।

'वह विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षा पास कर चुका है । उसका जीवन एक मोड ले रहा है । अब उसे अपने पैरो खडा होना है । पिता का जमा किया हुआ रुपया मुश्किल से अब तक चल सका है । ···और अब ? वह अच्छा विद्यार्थी रहा है—कम्पटीशन मे बैठ कर सरकारी अफसर हो सकता है—और रिसर्च करके विद्यालय मे भी नियुक्त हो

सकता है। पर ''पर दोनो के लिए समय चाहिए और रुपया चाहिए। साथ-साथ कुछ किया जा सकता है—इस प्रकार वह कुछ कमा सकेगा, ऐसा वह सोचता भी है। लेकिन अब तक वह पढने-लिखने से परिचित रहा है और अपनी आकाक्षाओ के ऊँचे-ऊँचे स्वप्नो से। ससार का परिचय उसके लिए नया है, अब उसे लगता है कि ससार कठोर ही नही निर्मम भी है। वहाँ उपेक्षा ही नही होती, वरन् ठोकरे भी लगती है। इस आकस्मिक परिस्थिति का सामना उसका मन नही कर पा रहा है। सघर्ष से उसका मन हारता जाता है, उसका मन टूटता जाता है। महीने से अधिक हुआ, वह अपने मेस का हिसाब चुका नही सका है। उसने दूध पीना छोड दिया—कपडे धुलाना बन्द कर दिया और वह पुराने ब्लेड ही इस्तेमाल कर रहा है। लज्जा और ग्लानि से वह गला जा रहा है। काम की तलाश मे वह कितने ही स्थानो का चक्कर लगा लेता है—कही मिलने का साहस नही कर पाता, कही से बात टाल कर चला आता है। वह स्वाभिमानी है, उसका स्वभाव किसी से दबने का नही है, वह कही काम निकाल नही पाता और अपने-आप काम बनता नही।'

अन्त मे वह थक जाता है। उसका मन हार जाता है।—नही आगे पढ सकेगा नही, किसी प्रतियोगिता मे भाग ले सकेगा—न सही। जीवन मे सभी बडे आदमी नही बनते, फिर ये ही बडे काम नही है। ईमानदारी से कही स्कूल-मास्टरी करने मे कम गौरव नही है। मनहर ने ऐसा ही तो किया है।—लेकिन इस प्रकार मन समझाया जा सकता है, सन्तुष्ट नही किया जा सकता। इस सब कुछ को छोडने के सकल्प मे उसे अपने को तोडना पड रहा है, जैसे अपने-आप को वह मिटा रहा हो।····· फिर उन्ही दिनो एकाएक बनारस से उसे मनहर का पत्र मिलता है—उसका पिछला पत्र परीक्षा के दिनो मे मिला था, छुट्टी के पहले नौकरी पर से उसने लिखा था। मनहर की याद उसे इधर बार-बार आई है। मन ही मन वह उससे रुष्ट भी है। उसे लग रहा था कि मनहर जान-बूझकर उसकी उपेक्षा कर रहा है। पत्र पाकर क्षण-भर के लिए वह अपने को

भूल गया। उत्सुकता और उल्लास मे वह पत्र पढता है ' 'और पत्र का अक्षर-अक्षर जैसे उसके मन पर आज अमिट हो गया है।

प्रिय इन्द्र,

मैं मानता हूँ कि तुम मन-ही-मन खूब खीझते होगे। लेकिन मैं तब से बीमार हूँ। सूचना जान-बूझ कर नही दी, तुमको छुट्टियो मे कम्पटीशन की तैयारी करनी थी। लेकिन इन्द्र, मेरा अब भी आग्रह है कि तुम रिसर्च करो—वही लाइन तुम्हारे स्वभाव के अनुरूप है—अफसरी तुम से निभेगी नही।

अब डाक्टर कहते है कि मेरे पेट मे फोडा हो गया है। डाक्टरो की बुद्धि पर मुझे कभी भरोसा नही रहा, वही बात हुई। अभी तक न जाने क्या-क्या अन्दाज लगाते थे, और अब उन्हे एकाएक मालूम हुआ है कि फोडा है जो फूटने के बाद असाध्य हो जायेगा। मुझे शीघ्र पटना जाना चाहिए। सो कल ही जाने का प्रबन्ध हुआ है।

लेकिन भइया, अब मुझे भरोसा नही—आभास होता है। तुम दुःखी न होना; तुम जानते हो ससार के लिए यह कितनी साधारण घटना है। मैं तुमसे मिलना चाहता था, पर डाक्टर का आग्रह शीघ्र ही पटना जाने का है। मेरा मन हो नही रहा है। वैसे मै प्रसन्न हूँ—सदा की भाँति निश्चिन्त भी। घर पर भइया खेती-बारी सँभाले ही है; हाँ, कभी-कभी तुम्हारी भाभी और मुन्ना की याद घेर लेती है। वह मेरी कमजोरी है, तुम सब अपने हो ही।

और इन्द्र, मुझे याद आ रहा है किसी ने कहा है—जीवन जीवन को दान नही देता, दे भी नही सकता। नाम याद नही है, पर तुम्हारा तो प्रिय ऑथर है। मैंने इसे लेकर तुम्हे चिढाया है, पर आज समझ रहा हूँ—जीवन का यह बहुत बडा सत्य है। आशा है मेरी इस सहायता को तुम इसी प्रकार लोगे।

तुम्हारा प्यारा
मनहर

इस पत्र के साथ कई सौ का ड्राफ्ट था ।

पार्क से होकर एक व्यक्ति साइकिल पर तेजी से सीटी बजाता हुआ निकल जाता है । युवक के मन मे विचारो की श्रृंखला भग हो जाती है और कल्पना के धुँधले-धुँधले चित्र ओझल हो जाते है । उसे जान पडता है कि पार्क के अँधेरे वातावरण को किसी ने झकझोर दिया हो । कुछ क्षणो मे वैसी ही नीरव उदासी छा जाती है और उसमे वह डूब जाता है ।

वह नया-नया कालेज से यूनिवर्सिटी मे पढने आया है । वह क्लास मे चुप गुमसुम खोया-खोया रहता है—कोई ही उसे जानता है । लेकिन इस मनहर को कोई न जाने, यह हो कैसे सकता है ! क्लास की साधारण हँसी की लहर के ऊपर मनहर की खिलखिलाहट साफ सुनायी देती है । टीचर के आने के पहले क्लास के कोलाहल मे उसकी आवाज स्पष्ट पहचानी जाती है, और बिना हँसे वह बोल ही नही पाता है । क्लास को चुप कराने के लिए प्रोफेसर गम्भीर स्वर मे कहते—'मनहर !' वह किसी प्रकार अपनी हँसी रोकता और क्लास मे लैक्चर शुरू होता । फिर प्रोफेसर पढा रहे है—पढा रहे है, और बीच मे मनहर पूछ बैठता है—"सर !" ऐसा भी होता है कि टीचर झल्लाकर उसे क्लास से बाहर जाने की आज्ञा दे डालते है और वह आज्ञाकारी लडके की तरह क्लास से चुपचाप जाने लगता है—पर जाते-जाते डायस के पास खडे होकर सरलता से पूछता है—"लेकिन, सर, मेहरबानी करके आप मेरी गलती बता सकेगे !" इस पर प्रोफेसर खीझ जाते—"मि० सिंह, तुम अपनी सीट पर चुपचाप जाकर बैठो ।" और मनहर अपनी सीट पर कुछ देर के लिए गम्भीर होकर बैठ जाता ।

इसी प्रकार मनहर सभी टीचरो को खिझाता और झल्लवाया करता । लेकिन उसके स्वभाव मे एक अजब सरलता है जिसकी [illegible]ता से

सभी आकर्षित है और शायद सभी उसे प्यार भी करते है। वह मन ही मन चाहता है कि मनहर उसका दोस्त हो—उसे लगता है जैसे उनका मन मनहर को सदा से पहचानता आया है। लेकिन यूनिवर्सिटी की भीड-भाड मे दोस्ती एक मौका ही है। मनहर जब कभी उसकी ओर देखकर मुस्करा देता है—वह सकुचित होकर दृष्टि अलग कर लेता है।

फिर अनायास ही एक दिन मनहर उससे मीठे विनोद मे पूछ लेता है—"कहिये फिलासफरजी, दुनिया की किस समस्या की उधेड-बुन मे रहते है ?" दूसरे से ऐसा मजाक सुनकर वह बुरा मान जाता, लेकिन इससे उत्साहित होकर उसने कह दिया, "यही सोचा करता हूँ कि कुछ लोग दुनिया से हँसी ही हँसी कैसे बटोर पाते है !" मनोहर हँसकर कह देता है—"इतनी-सी बात तो मै सिखा दूँगा तुम्हे।"

और इसी प्रकार उनकी दोस्ती आरम्भ हो जाती है।

युवक उसी प्रकार पार्क की बेंच पर चुपचाप बैठा है। हवा का एक हल्का-सा झोका आया और अँधेरे मे एक सिहरन काली छायाओ मे व्याप गई। सामने का पाम अपने अकेलेपन की उदासी मे हिल गया। युवक ने एक आँख यह सब देखा और फिर अपनी कल्पना मे खो गया।

विद्यार्थी-जीवन के दिन-मास की गति मे वर्ष बीत रहे है। मनहर उसके जीवन के समीप आकर घुल-मिल गया है। उसे कभी जान पडता है उसका अस्तित्व मनहर मे समा गया है, और उसके बिना वह रह नही सकेगा। मनहर बहुत अच्छा खिलाडी है और अच्छा विद्यार्थी भी। मनहर कहता—'तुम खेलते क्यो नही इन्द्र ?" वह कहता—"तुम पढते क्यो नही मनहर ?" और कभी वह खीझ कर कह देता है—"तुम अच्छा खेलते हो, इसमे तुम्हारा क्या ? इतने लम्बे शरीर का एडवाण्टेज जो तुम्हे है।" मनहर हँसकर उत्तर देता—"और तुम्हे जो अधिक पढने का एडवाण्टेज है—नही तो तुम फर्स्ट आते ?" वह जानता है

मनहर प्रतिभावान् है, उसकी स्मरण-शक्ति अद्भुत है। कभी वह गम्भीर होकर समझाता है—"मनहर, तुम यदि पढने मे थोडा भी ध्यान लगाओ, तो क्लास मे ·····।" मनहर उसके कन्धो को झकझोर कर कह देता है—"फिर तुम्हारा क्या होगा इन्द्र ?" उसे यह बुरा लगता है—"तो तुम क्या समझते हो—मुझे कम जो याद होता है, लेकिन मेरी समझ understending।" मनहर खिलखिला पडता है—"अरे भाई मै तो मानता ही हूँ कि तुम्हारी प्रतिभा के लिए यह सब डिवीजन-पोज़ीशन का अधिक महत्त्व है—मेरे लिए किसी स्कूल की मास्टरी बहुत है, और उसके लिए अधिक हाय-हाय क्यो की जाय !" मनहर उसे चिढाता भी है। क्लास की लडकियो को वह नाम लेकर पुकारता है और बहनजी कहने वाले लडको को बनाता है। कभी वह उससे कहता—"इन्द्र, सुनो, एक गभीर प्रश्न है।" और अलग ले जाकर पूछता है—"यह जो मोटी गोल, भारी-भरकम तुम्हारी बहनजी है, इन्होने अपना नाम पुष्पलता क्यो रक्खा है ?" वह बिगडता, खीझता और रूठ भी जाता—"यह क्या बेहूदा बात !" पर मनहर बाद मे उसे मना लेता है—और इसी प्रकार विद्यार्थी-जीवन बीत रहा है।

युवक के मन मे अतीत के चित्र आते है और चले जाते है। और वह इसी प्रकार बैठा है। अब उसने बाये हाथ से बैंच का सहारा ले लिया है और कुछ झुक गया है—सामने सरो के पेड की लम्बी छाया है। और उनकी पृष्ठभूमि मे लाइब्रेरी का सेलहूट।

सन् ४२ है। ससार मे युद्ध की गर्मी है—देश मे विद्रोह की गर्मी है। उसकी आँच से विद्यार्थियो के खून मे उबाल आ गया है। लगता है देश अब स्वतन्त्र हुआ। यूनियन हाल मे कभी ऐसी भीड हुई हो—उसे याद नही है। जोशाले भाषणो के साथ प्रस्ताव पास होते है। लेकिन वातावरण के घनेपन का मनहर पर अधिक प्रभाव नही है। वह देखता

है मनहर स्थिति को गभीरता से नही ले रहा है। उसका मन आवेश और उत्साह से उछलना है, लेकिन मनहर सब कुछ हल्केपन से लेता है। उसे यह खलता है—उसे लज्जा भी आती है। प्रस्ताव सामने है— "स्वतन्त्र हुए बिना हम विद्यालय नही लौटेगे।" एक मत से सबने हाथ उठाया, पर मनहर का हाथ नही उठा। पास के विद्यार्थियो का ध्यान भी गया, क्रोध से उसकी ओर देखते है, और धीमे स्वर मे कहते है— "गद्दार!" वह विकल होकर उसका हाथ दबाता है, पर मनोहर मुस्कराता खडा रहता है।

फिर जुलूस जा रहा है—हजारो की भीड है—उत्साह मे उछलता हुआ—नारो से आकाश गुजाता हुआ। मनहर के साथ वह झण्डे के पास है। एकाएक मनहर उसे किनारे ले जाकर कान मे कहता है— "इन्द्र, मेरी कई लाइब्रेरी की किताबे पिगन होल न० ६२ मे है, उन्हे वापस करके तुम आगे मिल जाना—मेरा जाना ठीक नही।" उदास मन से वह स्वीकार कर लेता है। हाथ उठाने की घटना के बाद वह भी समझता है, मनहर का जुलूस से जाना ठीक नही है और मन मे बात उठने के बाद मनहर का मानना भी सम्भव नही होता।

वह अपने अँधेरे कमरे मे आतकित बैठा है। होस्टल के बाहर फौज का पहरा है। होस्टल के पास लडको ने कई मिलिटरी ट्रकें जला दी है। सुना है, कचहरी मे गोली से बहुत विद्यार्थी मरे है। मनहर को लेकर वह क्रुद्ध भी है, और चिन्तित भी। मनहर ने उसे झूठ ही बहका दिया है, वह उसे कायर समझता है। और यहाँ उसने मिलिटरी ट्रके और रायल मेल जलाने मे पूरा सहयोग दिया है—यह तो कमबख्त मिलिटरी ने होस्टल घेर रक्खा है।

मनहर चुपचाप कमरे मे प्रवेश करता है। सामने देखकर ही वह कह उठता है—"तुम कायर हो, मनहर !" मनहर कुछ गम्भीर है—"और निहत्थे ड्राइवरो को पीटकर मोटर जला देना, फिर फौज के डर से कमरे मे लुकना बहादुरी है ?" "हम निहत्थे है जो यहाँ ! लेकिन तुमने जुलूस से मुझे क्यो बहका कर भगा दिया था ?"

"तो क्या तुमको वहाँ मरने देता।"

"देश के लिए।"

"नही, कहो मूर्खता से।"

"यह देश का अपमान है !"

"और मैं कहता हूँ यह बुद्धूपन है !"

वह खीझ कर कहता है—"लेकिन तुमने मुझे धोखा क्यो दिया—मैं पिगन हाल मे पुस्तके खोजता रहा—और वहाँ कचहरी मे गोली चल गई।"

"तो तुम क्या वहाँ गोली चलना बन्द कर देते ?"

"कम से कम गोली खा तो सकता था।"

"इसी से तो मैंने तुम्हे टाल दिया।"

"यह आन्दोलन का अपमान है—तुम्हारे लिए लज्जा की बात है !"

"ऐसे मर जाना मूर्खता है। मरने मे क्या वीरता है ?" उसने व्यग किया।

"बेशर्मी से जीना बडी वीरता है !"

"हाँ—व्यर्थ मरने मे"—दृढ स्वर मे मनहर ने उत्तर दिया।

उसी समय आवाज पहचान कर पास के कमरे का लडका महेन्द्र आ जाता है और कमरा बन्द करते हुए कहता है—"अरे मनहर, तुम यहाँ ! मैंने तो सुना था कि तुम्हारे कन्धे से गोली पार हो गई है और तुम अस्पताल मे हो।" कमरे के अँधेरे मे साफ कुछ नही दिखायी दे रहा था; वह व्यग्रता से स्विच ऑन कर देता है—मनहर के कन्धे पर बैण्डेज

है। मनहर हँस कर कह देता है—"अरे नही जी, ऐसे ही गोली छू गई थी, मैं हाल-चाल लेने चला आया।"

महेन्द्र के जाने पर वह अपना आक्रोश प्रकट करता है—"तुम कैसे हो मनहर! मुझे टाल दिया और खुद मरने पहुंच गए।" वह सोचता है, यदि गोली कही अन्यत्र लगती और कल्पना से सिहर जाता है। और मनहर उसके पास बैठ कर स्नेह से कहता है—"ऐसे क्यो होते हो इन्द्र, मै मरने नही गया था, पर साथ कैसे छोड सकता था? और अच्छा ही हुआ; मै न होता तो कितने ही लडके-लडकी आज व्यर्थ शहीद होते। मूर्खों को बरबस खीच कर लेटने पर बाध्य करना पडता था। फिर भी इन्द्र······।" उसकी आँखो मे आँसू उमड पडते है और वह विह्वल हो जाता है।

पार्क पर कोई पक्षी 'टे-टे' करता मँडरा रहा है। और उस कोलाहल से अँधेरी सोती दुनिया के साथ जैसे युवक भी जाग पडा। पक्षी निकल जाता है और उसकी 'टे-टे' डूब जाती है। धीरे-धीरे तन्द्रिल पार्क फिर खामोशी से सो जाता है। और जँभाई लेकर युवक अपने-आप मे उलझ जाता है।

बगाल के अकाल की खबरे आ रही है। बगाल भूखो तडप रहा है, और हम चैन मना रहे है। उसने सकल्प किया कि वह सिनेमा नही जायेगा और बचत बगाल-फण्ड मे देगा। महीनो से वह खेल देखने नही गया। वह नही गया, मनहर भी नही गया, पर मनहर इस पक्ष मे नही है। इस प्रकार की दया को वह छिछली भावुकता मानता है। वह कहता, "जिन्हे भूखो मर कर भी विद्रोह नही करना आता, उनका मर जाना ही अच्छा है।" और कभी कहता—"इन्द्र, यह बगाल का अकाल देश के चरित्र की परीक्षा है। तुम समझते हो जो अकाल सरकार और पूँजीपतियो की चाल है, वह तुम्हारे दो-चार पैसो से दूर हो सकेगा—

उसके लिए रक्त चाहिए, रक्त दिया जा सके तो दो—।" और एक दिन कहता है—"इन्द्र, सुना तुमने, बगाल-फड के लिए सगीत और नृत्य का आयोजन है—शव पर नाच कर भीख माँगी जायगी, भूखो के लिए रोटी के टुकडो की ।"

उन्ही दिनो नगर मे 'रोटी' फिल्म आया। वह सुनता है कि इसमे पूँजीवादी व्यवस्था पर क्रूर व्यग है। वह देखना चाहता है, लेकिन सकल्प। फिर मनहर आग्रह कर उसे घसीट ले जाता है। अभी एक्के से वे चौक मे उतरे है और मनहर पैसे चुका रहा है। एक भिखारिन गोद मे बच्चा लिये सामने आ जाती है। दीनता का अभिनय करती हुई हाथ बढा देती है, उसे निकम्मे भिखारियो से चिढ है—"तुम्हे लाज नही आती, काम क्यो नही करती ?" कहकर वह आगे बढ जाता है। पीछे सुनायी देता है, भिखारिन कह रही है—सलीमा खातिर है, पै भूखन कू नाही।" मुडकर देखता है, मनहर भिखारिन के सामने खडा अपने मनीबेग से रुपये निकाल रहा है और उसके हाथ पर चुपचाप सब रख देता है। फिर वे सिनेमा नही जा सके, उस दिन।

चर्च का घण्टा टन-टन कर बजता है। युवक चौक कर उठ बैठता है और खडा हो जाता है। फिर धीरे-धीरे वह दाहिनी ओर पार्क की सडक पर मुड जाता है। लेकिन पास के एकाकी पेड की उदासी उसके मन को छोड नही रही है। और वह अनुभव करता है कि दोपहर की एक घटना उसके मन को न जाने कब से छाये हुए है, घेरे हुए है।

विश्वविद्यालय मे वह विभाग के अपने कमरे मे बैठा किसी काम मे व्यस्त है। कोई दरवाजे की चिक को हिलाकर कहता है—"सर, मै आ सकता हूँ।" वैसे ही वह कह देता है—"अवश्य।" कोई पास आकर चुपचाप खडा हो जाता है। वह समझ लेता है, कोई विद्यार्थी है। पूछता है—"क्या काम है ?" लडका संकोच के साथ कहता है—"मास्टरजी ! और अपना साइज़रशिप का फार्म सामने बढा देता है। वह वैसे ही कह

जाता है—"लेकिन भाई, मै तुम्हे जानता भी नही।" कितने ही लडको के लिए उसे लिखना पडा है, जिनसे वह बिल्कुल अपरिचित है। आग्रह के स्वर मे लडका कह देता है—"लेकिन मुझे तो यहाँ कोई नही जानता मास्टरजी !" वह अन्य कागजो से हटाकर दृष्टि फार्म पर डालता है—

नाम—वीरेन्द्र सिह

पिता का नाम—मनहर सिह

एकाएक फार्म से दृष्टि उठ जाती है। सामने सुन्दर गोरे रग का लम्बा लडका अपनी आँखो मे निरीहता का भाव लिये खडा है। उसके मन मे 'मनहरसिह' प्रतिध्वनित होकर गूँज जाता है !

रिक्त स्थान

प्रिय मुकुल,

क्या लिखूँ ? जीजाजी का पत्र तुम्हे भी मिला होगा। हमारी मन स्थिति समान है। तुम अपने भइया दद्दा को जानते हो, पहिचानते हो। तुम को धुँधली स्पष्ट याद होगी, एक दिन माँ हमको चुपचाप छोडकर न जाने कहाँ चली गयी थी और तब से आज तक नही लौटी। तब तुम छोटे थे। उस दिन तुम से अधिक सोचने-समझने की बुद्धि मुझ मे थी। क्या कहूँ मुकुल, माँ जब थी, सोचता था कि मैं माँ के बिना नही रह सकूँगा। माँ नही रही और मै वैसा ही जी रहा हूँ। पर उस दिन के कष्ट और पीडा से आज की वेदना अधिक मार्मिक है। मै आज यह सोच नही पा रहा हूँ कि जीजी नही है। जीजी भी कभी नही रह सकती है, यह कल्पना कदाचित् मेरे मन मे उठी नही थी। पर यह सत्य है, और यह जीजाजी का छोटा-सा पत्र इतने बडे सत्य का साक्षी बन गया है। फिर जैसे मेरा सारा अस्तित्व इसका अनुभव कर रहा है, मेरा सारा अपनापन फैलकर मुझसे यही कह रहा है—अब जीजी नही है। कोई बहुत बडी पीडा हो, कोई बहुत बडा कष्ट हो, ऐसा भी नही जान पडता, केवल जैसे जीवन का कोई सूक्ष्म तार टूट गया हो। लगता है हम (भाई-बहन) जिस डाली पर एक पक्ति मे बैठे थे उसके बीच का स्थान रिक्त हो गया है। हम इस रिक्त स्थान के सूनेपन को दूर करने मे असमर्थ है, वरन् हम स्वय इस रिक्त शून्य मे लीन होते जाते है। जैसे हमको अपनी-अपनी बारी याद आ गयी हो।

अधिक और क्या! तुम दिवाली मे मेरे पास भी नही आ सके, हम तुम्हारी प्रतीक्षा मे थे।

तुम्हारा

भइया दद्दा

बिजली के प्रकाश मे वह पत्र को देख जाता है। धीरे-धीरे पत्र का शब्द-शब्द मन के कोहासे मे खो गया। पत्र के शब्द वाक्य के प्रवाह मे न जाने किस अनुभूति से मिलकर हृदय की सवेदना मे एकाकार हो जाते है। मन मे सोचने-समझने के लिए जैसे कोई आधार शेष नही है। आर्मचेयर पर लेटे-लेटे वह बन्द दरवाजो के शीशो से बाहर की घनी नीम की छाया को शून्य भाव से देख लेता है। उसने पत्र पढा नही है, केवल उसका अनुभव किया है। वह वृक्ष की काली छाया, देख नही, अनुभव कर रहा है। अँधेरा होस्टल के बरामदे मे आने से सकोच कर रहा है और वह नीम की डालो पर उलझा हुआ है। उसके मन मे वैसा ही कुछ उलझा हुआ है, वैसा ही अँधेरा-सा छाया हुआ है। जैसे वह निश्चिन्त होकर जिस डाली पर बैठा था, वह इस अँधेरी उलझन मे खो गई है।

धीरे-धीरे मन मे कोई बात उभर कर ऊपर आना चाहती है। और उसके मन मे उठता है—"जीजी नही रही, जीजी अब नही है। यह तो बिलकुल नयी-सी बात है, ऐसा कभी नही हुआ। यह कैसी बात है, जीजी नही है, इसका अर्थ क्या है? किसी के न रहने का मतलब क्या है? यह मर जाना होता क्या है, कोई कैसे मर जाता है! जीजाजी का पत्र आया था, और भइया दद्दा ने भी यही लिखा है—जीजी नही रही। आखिर बात क्या है। इसका अर्थ क्या है?" उसके मन पर कैसा-कैसा भारीपन घिरता आता है। मन की विकल बेचैनी विवश निराशा मे डूबती जाती है।

इसी मन:स्थिति मे वह बैठा रहता है। सामने के चर्च के घटाघर मे टन-टन करके कई घण्टे क्रम से बजते है। ध्वनि के इस क्रम से वह अपनी तन्द्रा से जग जाता है। उसे जान पडता है—वह समझ लेता है, अभी वह एक पत्र पढ रहा था—भइया दद्दा ने लिखा है, जीजी अब नही रही है। उसे परसो जीजा का पत्र मिला है और उसमे भी इसी घटना का उल्लेख था। उस सूचना से उसे पीडा हुई थी और वह रोया

भी था, उस दिन। पर आज के इस पत्र ने जैसे उसका अस्तित्व हिला दिया हो। जिस अतीत मे यह उसका अपनापन विकसित हुआ है, उसका मन उसी ओर वेग से आकर्षित हो रहा है।

उन दिनो वह छोटा ही था। और उस जीवन मे न जाने कितना आकर्षण फैला था। सारी की सारी वस्तुओ के प्रति या तो सहज जिज्ञासा की उत्सुकता थी या सहज परिचय या आह्लाद। न जाने कितने रग उन दिनो दिखायी पडते थे और न जाने कितनी ध्वनियाँ सुनायी पडती थी, उन दिनो। प्रत्येक फूल-पत्ती इगित से सकेत करके उसे अपने पास बुलाते थे, प्रत्येक पशु-पक्षी अपनी भाषा मे उसे आमन्त्रित करते थे। पृथ्वी की हरियाली का दूर-दूर तक फैला हुआ विस्तार—आकाश की नीली शून्यता का न जाने कितना विस्तार, उसके शिशु मन को कभी शकित और कभी भयभीत कर देता था। इस सारे आकर्षण के बीच मे उसके लिए माँ जैसे केन्द्र थी। उसके कोमल स्नेहिल अस्तित्व मे वह पक्षी के बच्चे के समान पख सिकोडे बढ रहा था। पर माँ के आवरण मे वह अकेला नही था। भइया-दद्दा, जीजी और बडे दद्दा सभी तब साथ-साथ बढ रहे थे। और तब ऐसा नही लगता था कि उन सबका अलग-अलग अस्तित्व हो, वे सब एक ही जीवन की अभिव्यक्तियाँ भर थे। वह सब से छोटा था, और इसलिए आवश्यक रूप से प्रमुख भी। उसके कर्त्तव्य की जब कोई रूपरेखा भी नही थी, तब उसके अधिकार सीमाओ को स्वीकार करके नही चलते थे। इसका प्रमाण तो हर क्षण ढूँढा जा सकता था। उसके इन अधिकारो के प्रति भइया-दद्दा और जीजी विद्रोही होने का अभिनय भी करते, पर माँ कह देती—"तुम्हारा छोटा भइया है न!" और उसके आगे वे भुनभुनाते रह जाते और उसकी जीत हो जाती। यही नही, उनको उसे अपने खेल मे साथ लेना होता और सैर मे साथ रखना पडता। और खेल मे उसके सम्मिलित होने का अर्थ होता, उन सबका खेल समाप्त हो जाना, तथा सैर मे जाने

का मतलब होता, उसे गोद मे लाद कर वापस आ जाना। वे चिढते, बिगडते, पर ऐसा नित्य ही चलता।

वे शाम को घूमने जाने के लिए तैयार है। नौकर माँ के साथ काम में व्यस्त है। वह पैर पटकता हुआ ठुनक कर कहता है—"जीजी, मै भी, भइया-दद्दा, मै भी।" भइया-दद्दा कहते—"माँ, मुकुल चल तो पाता नही, फिर हमको तग करता है।" जीजी कहती—"फिर माँ, हम नही जानते, मै इसे नही लादूँगी।" लेकिन वह सब अस्वीकार करके कह देता—"माँ, मैं कहाँ थकता हूँ!" बडे दद्दा स्पष्ट घोषणा कर देते—"देखो भाई, अगर मुकुल को ले चलना है तो तुम्ही सब जानना। मैं तो बीच रास्ते से लौटने से रहा।" माँ उनकी स्पष्टवादिता से चिढकर कहती—"अच्छा-अच्छा, तू मत जानना, जैसे तेरे ही मत्थे वह रहता है। मीना बेटी, बडी रानी है तू, लेती जा इसे।" फिर जीजी उसके उत्तर-दायित्व को सँभालने के लिए विवश हो जाती। कुछ दूर वह अकडकर चलता जाता और सब पर इस बात को प्रकट करता चलता कि वह कही ऐसे थकता है। लेकिन उस छोटे नगर के सीमान्त तक पहुँचते-पहुँचते उसे लगता अब वह थक गया है। उन दिनो वह न तो उस नगर को छोटा समझता था और न उस दूरी को कम। फिर सोचता, ये लोग आगे बढते ही क्यो जाते है, अब लौटते क्यो नही? वह थक गया है, लेकिन वे सब झील की ओर जा रहे है। वह खीझ उठता है और जीजी की अँगुली झटक कर खडा हो जाता है। जीजी रुक कर पूछती है—"क्यो?" सब रुक जाते है। बडे दद्दा झल्लाकर कहते है—"मै कहता था न। और लाओ मुकुल को। चार फर्लांग घूमना भी क्या घमना है!" इस पर भइया-दद्दा कह उठते—"देखो मुकुल, फिर तुम आये क्यो, हम तुमको छोड देगे।" जीजी इन भर्त्सनाओ के बीच मे पुचकारती है—"मेरा भइया बहुत बहादुर है, वह झील तक चला चलेगा। देखो, फिर हम वहाँ सुक्खू की नाव पर बैठेगे।" लज्जा तथा नाव के आकर्षण से कुछ दूर वह और चलता है। पर वह थक जो गया है, वह जीजी की अँगुली छोडकर

खडा हो जाता है । जीजी पर सब बिगडते है—"आखिर तुम इसे क्यो लाती हो ? माँ के कहने से क्या, उनको क्या पता है !" वह लज्जित होकर खीझ मे कहती है—"हम जाते है। फिर मुकुल, तुम यहाँ अकेले खडे रहना, मै नही जानती ।" वह भी भरे मन से कह देता है—"हाँ हाँ, तुम जाओ, मै यही बैठा रहूँगा ।" यह कहकर वह सचमुच ज़मीन पर बैठ जाता है । बडे दद्दा कहते है—"फिर तुम आये क्यो थे ?" उसका मन इस प्रताडना से भर जाता है । इतने मे भइया-दद्दा भी जड देते है—"तू जिद क्यो करता है मुकुल, हम आज तुझे छोड जायेगे ।" वह सोच रहा था कि वे नही जा सकेगे, लेकिन ऊपर से भरे मन से वह कह जाता है—"हाँ हाँ, तुम चले जाओ ।" जीजी ने खीझ कर कहा—"आज हम सब इसे छोड दे, लौटते समय ले लेगे ।" उसके मन मे विश्वास था कि जीजी उसे नही छोडेगी, यह सुनकर उसका अभिमान बढ गया और वह मौन रहा । बडे दद्दा यह कह चल दिये, "जिसे आना हो आये, मै जा रहा हूँ ।" उसे लग रहा है, सब उसे छोडकर चले जायेगे । चारो ओर के धुँधले प्रकाश मे जैसे फैलता हुआ भय उसे घेरता जा रहा है और साथ ही उसके मन का आवेग भी ऊपर आता जाता है । उसे रुलाई आ रही है, पर रोना नही चाहता । भइया-दद्दा भी चल दिये हैं और जीजी भी जैसे चलने वाली हो । उसका मन बिल्कुल उमड आया है, लेकिन वह रोयेगा नही । उसने अपनी रुलाई रोक रखी है, पर आँसू बह चले है, हिचकियाँ फूट निकलती है । और वह जल्दी से खडा होकर घर की ओर भागता है । लेकिन पास खडी हुई जीजी ने पकडकर अपनी गोद मे छिपा लिया और वह ज़ोर से रो पडता है । भाई लौट आते है, जीजी कह रही है—"अरे मुकुल, मैं तो कही भी नही गई । मैं तुझे छोडकर कभी नही जाती । तू रोता क्यो है ?" मुकुल जीजी की गोद मे सिसक-सिसक कर रो रहा है और भाई कहते है—"अरे मुकुल, तू तो रो रहा है ! वाह, तू ऐसा ही बहादुर है ! हम सचमुच थोडे ही छोडे जा रहे थे !"

हॉस्टल के सामने की सडक पर, दूर एक्का के घोडे की टापो के साथ घण्टी घनघना उठी। किशोर जैसे जाग जाता है, उठकर प्रकाश बुझा देता है। फिर मन की किसी प्रेरणा से कमरे के बाहर आकर रेलिंग पकड कर खडा हो जाता है। हॉस्टल मे चारो ओर सन्नाटा है—दूर मेसो की ओर से बरतनो के खटकने की आवाज उसके मन से टकरा कर अपने-आप लौट जाती है। सामने वृक्षो की छाया-रूप पंक्तियाँ चली गई है। जिसमे बीच-बीच मे सडक के बिजली के बल्ब चमक रहे है। उसी प्रकार सडक एक रेखा मे चली गई है। और प्रकाश की इस रेखा के सहारे उसका मन आगे बढ रहा है।

अब वह कुछ बडा हो गया है। उसके जीवन मे एक व्यक्ति का महत्व अब अधिक स्पष्ट हो गया है। पापा न जाने बाहर कहाँ रहते है। जब घर पर रहते है, तब भी दूसरो के साथ अधिक उलझे रहते है; लेकिन फिर वह अनुभव करता है कि घर के जीवन मे उनका अस्तित्व प्रधान है। नौकर उनके सामने अधिक सयत रहते है, माँ उनको लेकर अधिक व्यस्त हो उठती है। जिस दिन वे बाहर जाने वाले होते है, घर मे अधिक सतर्कता रहती है। उसे लगता है, माँ पापा से डरती है। लेकिन वे कभी रुष्ट भी हो जाती है, उस समय पापा नम्र हो जाते है। भाई-बहिन सभी पापा से कुछ डरते है; लेकिन उनको लेकर दूसरो से निडर भी रहते है। वह स्वय समझता है, पापा उसके बहुत अच्छे है, क्योकि वे उसकी सब बातो को स्वीकार कर लेते है। और दूसरो से पापा का भय दिलाकर काम निकाला जा सकता है। हाँ, माँ जरूर उनका भय नही मानती, पर इससे क्या, पापा की डाँट खाकर तो उनकी बात मान लेती है। और सभी भाइयो को यह मालूम है कि माँ के विरुद्ध पापा की सहायता भी ली जा सकती है।

अब वह समझदार हो गया है। भइया-दद्दा और जीजी के साथ स्कूल भी जाता है। उसके स्कूल मे लडके-लडकियाँ सभी पढते है। लेकिन वह स्कूल को पढने से अधिक खेल का स्थान समझता है। इस कारण स्कूल जाने मे सबसे अधिक उत्साह वह दिखाता है। उसे झुँझलाहट होती है कि भइया-दद्दा और जीजी छुट्टी क्यो मनाते हैं। उसके लिए कोई कक्षा निश्चित नही, वह सभी सिस्टरो के पास जाकर बात करता है और खेलता रहता है। बूढे हेडमास्टर से पहले वह अवश्य डरता था, पर बाद मे उसे लगा कि उसके खेल के सबसे अच्छे साथी मास्टरजी है। स्कूल मे जीजी के साथ पडौस के छोटे मकान की एक लडकी भी पढती है। वह उसको गन्दे कपडो तथा चुपचाप स्वभाव के कारण अधिक पसन्द नही करता। पर जीजी का उससे बहनापा है। जीजी को मालूम है कि माँ पसन्द नही करती कि वे लोग उस छोटे घर के लोगो से मिले-जुले। लेकिन जीजी चुपचाप उस लडकी के घर जाती है। कभी-कभी वह भी साथ जाता है। एक दिन वह जीजी और भइया-दद्दा के साथ वहाँ गया। उसको मोटी पीली-लाल रोटी चटनी से खाते देख सभी को लगता है कि यह रोटी बहुत अच्छी है। घर आकर सबने वैसी ही रोटी बनवाने के लिए माँ से आग्रह किया। माँ वैसे ही किसी बात को लेकर व्यस्त थी, उन्होने झिडक दिया—"हाँ, तुम सब अब नाई-बारियो की नकल तो करोगे ही।" लेकिन जीजी का आग्रह कम नही हुआ। उसी समय ड्राइंग-रूम से पिताजी आ गए। उन्होने अनायास ही पूछ लिया—"क्या है मीना ?" जीजी मौन थी, पर भइया-दद्दा बोल उठते है—"पापा, हम कहते है आज हम लोग मोटी-पीली रोटी खायेंगे, जैसी उस घर मे खाते है, और माँ इस पर नाराज़ होती है।" उन्होने सकेत से घर बता दिया। पापा ने शायद अधिक कुछ समझा नही, पर माँ पर बिगड गए—"तू ऐसे ही लडको के पीछे पडी रहती है। अपने लिए होगा तो न जाने क्या-क्या बनाती रहेगी अगडम-बगडम, पर मीना कहती है, इसलिए उसके पीछे पडेगी।" माँ क्रुद्ध हो उठती है—"अच्छा

तो मै ही हूँ क्या ? तुम खुद क्यो नही अपनी लाडली के लिए बेझड की रोटी, लहसुन की चटनी बनवा देते ।" पापा ने जीने पर चढते हुए जैसे बिना ध्यान दिये हुए कह दिया—"और तुमको लडको से दुश्मनी है। अपने घर मे सदा अकेली रही हो, तुम्हे बच्चे क्यो भाने लगे !"

फिर माँ क्रोध मे झुँझलाहट मे, वह सब मिसरानी से बनवा देती है, जिसके लिए जीजी का आग्रह था। पता नही, पडोस से कैसा आटा लाकर मिसरानी ने रोटी बनायी और नौकर ने पत्थर के टुकडे पर चटनी पीसी। भइया-दद्दा और उसने तैयारी से समझ लिया कि यह ऐसी चीज नही कि जिसके लिए आग्रह करना चाहिए था। जब माँ जीजी को सुनाकर कह रही थी—"आज तू यदि सारी रोटी और चटनी नही खायेगी तो बहुत मारूँगी। तू अपनी ही जिद्द रखती है और लडको को खराब करती है।" जीजी वातावरण से शकित थी, माँ की भर्त्सना से और भी भयभीत हो उठी। उन दोनो ने एक-एक कौर मुँह मे रख कर घोषणा कर दी—"जीजी, यह तो खायी नही जा सकती। यह वह रोटी नही है जो उनके यहाँ बनती है।" जीजी ने चुपचाप एक-दो कौर खाये, लेकिन जैसे उनसे खाया नही जाता है। माँ ऊपर से धमका रही हैं—"तुझे रोटी तो खानी ही होगी।" वह सोचता है कि माँ कितनी खराब है, जीजी को जबरदस्ती रोटी खिलाती है।

उसी समय कपडे पहने हुए पापा ऊपर से कहते हुए उतर आये—"अरे, सुनती हो, मै आज ''।" और उनकी दृष्टि जीजी के विवश मुख पर डबडबायी हुई आँखो पर पड जाती है। पापा को यह असह्य है कि कोई बच्चो को रुलाये। उनकी उपस्थिति से प्रोत्साहित होकर वह कह देता है—"पापा, यह कितनी खराब रोटी है और चटनी बदबू करती है। पर माँ जीजी को जबरदस्ती खाने को कहती है।" पापा ने वैसे ही कह दिया—"इसे तो हर समय लडको के पीछे पडे रहना आता है। वह नही खायेगी यह रोटी। मीना बेटी, तू उठ जा !"

माँ क्रोध मे बिल्कुल झल्ला उठती है—"देखो जी, तुम मेरे और

लडको के बीच मे पडोगे तो ठीक नही होगा। उस समय ऐसा कह गए, और फिर अब उनकी-जैसी कहने आ गए।" पापा को पिछली बात याद आ जाती है, पर वे अपनी हार मानने को तैयार नही थे—"आखिर हो क्या गया ? वह नही खाती यह रोटी—जितनी अच्छी लगी, खा ली। कोई तुम्हारे घर की लडकी तो है नही।" माँ के लिए पापा का यह मजाक बहुत निष्ठुर था, आज वह अनुभव करता है। उस दिन वह प्रसन्न था कि माँ पर डाट पड रही है। माँ चुपचाप मौन अपने कमरे मे चली जाती है। पापा को जल्दी मे कही जाना था।

उस दिन का वातावरण बोझिल लग रहा था। माँ ने मिसरानी के बहुत कहने पर भी भोजन नही किया। जीजी दिन भर सहमी-सहमी रही और स्कूल भी नही गयी। भाइयो से भी माँ ने कुछ नही कहा। उसके बुलाने पर भी माँ चुपचाप लेटी रही। उसे आज लगता है कि माँ दिन मे रोई भी थी। शाम को जब भाई स्कूल से लौट कर माँ को ढूँढते उनके कमरे मे गये तो देखा—जीजी माँ के गले मे बाँहे डाले रो रही है और माँ के आँसू बह रहे है। दोनो भाई भी जाकर माँ से लिपट गए। बडे दद्दा, जो सब बातो को नही जानते थे, माँ को रोता देख विह्वल हो उठे और उन्होने पुकारा—"माँ !" उनकी वाणी के करुणा भाव से माँ ने अपने को सँभाल लिया—"हाँ बेटा, मैं उठती हूँ; चलो, तुम सबको नाश्ता करना है या नही ?" इस प्रकार जीजी के आँसुओ ने सबकी ओर से माँ से क्षमा माँग ली। और घर का वातावरण फिर मुक्त हो जाता है।

वह रेलिग के सहारे खडा-खडा जैसे थक गया हो। पास के नीम और शिरीष की उलझी हुई छायाओ मे कुछ खोजते हुए वह पास की बेच पर बैठ गया। चर्च का घण्टा बजा और कई बार बजता रहा। हॉस्टल मे नीरवता फैली हुई है और उसके साथ हल्की ठडक की सिहरन भी मिली हुई थी। उसको अनुभव होता है, अँधेरा शून्य-भाव से काँप

रहा है। और फिर जान पडता है उसके मन मे भी कपन धँसा जा रहा है। वह हाथो को बाँधकर आकाश के टिमटिमाते तारो के प्रकाश की लुका-छिपी को एक आँख देख लेता है और फिर अपने मे उलझ जाता है।

वे लोग नये शहर आ गए है। वह कुछ और बढ गया है—छोटी कक्षाओ मे पढने लगा है। वह अब लडकियो के स्कूल मे नही पढता है, भइया-दद्दा और बडे दद्दा के साथ ऊँचे स्कूल मे पढता है। रोज साइकिल के आगे बैठ कर चपरासी के साथ वह स्कूल आता-जाता है। जीजी लडकियो के स्कूल मे गाडी से जाती है। वह जानता है कि उसके बडे दद्दा ऊँची कक्षा मे पढते है। लेकिन अब वे उसके साथ अधिक नही रहते। न खेल मे साथ देते है और न घूमने साथ जाते है। उनका पढने का कमरा भी अलग है। उनके पास नई साइकिल है और उस पर अपने साथियो के साथ न जाने कहाँ-कहाँ घूमा करते है। माँ के पूछने पर कह देते—"पढने गया था, मास्टरजी ने बुलाया था।" आदि, पर दद्दा के दोस्तो से सबको चिढ थी। वे समझते कि इन्ही के कारण दद्दा न उनके साथ खेलते है और न कभी उनको अपने साथ घुमाने ले जाते है। यही नही, उनके कारण सभी बहिन-भाइयो को कमरे मे जाने की इजाजत नही मिलती। और वे सब सोचते कि दद्दा जो उनको हर समय टोका और डाँटा करते है, उसमे दोष मित्रो का ही है। और ये सब कितने अशिष्ट है! साइकिल से पैर लटकाये-लटकाये पूछेगे—"मि० वर्मा है?" जैसे मिस्टर वर्मा के अतिरिक्त घर मे कोई रहता ही नही। उसको कभी साइकिल पर घुमाने के लिए नही कहते। उनके कोट-पैंट-टाई से जीजी बहुत चिढती और कहती—"ये सब निरे घमडी है।" कोई पाजामा-कुरता वाले खद्दरधारी मित्र है जो अपना चश्मा उँगलियो पर नचाते हुए घण्टो दद्दा से बहस करते। भइया-दद्दा अन्तरंग सभा मे घोषित करते कि इन महाशय को चश्मा लगाने का शौक है, नही तो

चश्मा खेलने की चीज नही है। और उन सबका सबसे बडा अपराध यह है कि उनकी उपस्थिति मे दद्दा के कमरे मे कोई गया नही कि डाँट पडी नही। जीजी डिक्शनरी लेने पहुँची कि दद्दा ने टेढे स्वर मे पूछा—"यहाँ क्या काम है ?" भइया दद्दा एटलस लेने गये कि दद्दा ने कठोर स्वर मे प्रश्न किया—"क्या लेना है तुम्हे ?" वह घूमता हुआ वहाँ चला गया तो उन्होने झल्लाकर डाँटा—"यहाँ क्यो ऊधम मचा रखा है ?" यह भी कोई बात है, कोई कुछ नही करता, फिर भी डाँट कर भगा दिये जायेगे। जरूर ये सब-दद्दा को सिखा देते है। सबने मिलकर तय किया कि कमरा कोई दद्दा का ही नही है, सभी उसमे पढ सकते है। उनके व्यवहार के प्रति विद्रोह किया जाय और उनके अधिकार के प्रति सत्याग्रह। लेकिन माँ उनका पक्ष लेती है, वे ऊँची कक्षा मे पढते हैं! पापा अधिकतर बाहर रहते है।

एक दिन · जीजी दद्दा की अनुपस्थिति मे उनके कमरे मे पढ रही है। दद्दा आ जाते है, वे किसी बात से व्यग्र है। उन्होने आते ही कहा—"तुमको यहाँ पढने के लिए किसने कहा ?" दोनो भाई चक्कर लगाते हुए सुन रहे है। जीजी ने गभीरता से कहा—"इस कमरे मे तुम्हारा नाम नही लिखा है, मै पढूँगी।" दद्दा के लिए यह उत्तर अपमानजनक था—"अच्छा यहाँ से फौरन चल दो, बडी आई है कहने वाली—नाम लिखा है।" जीजी ने निश्चय के साथ कहा—"मै क्यो जाऊँ, मै यही पढूँगी। आये होगे आपके दोस्त।" दद्दा झल्ला उठते है—"तुमसे मत-लब! क्या नही आयेगे हमारे दोस्त ? तुम यहाँ से भागती हो या नही ?" वे दोनो चुपचाप झाँक कर देख लेते है। जीजी ने अपने को अपमानित अनुभव किया—"मै नही जाती, क्या करोगे ?" "मैं तुम्हे हाथ पकड कर निकाल दूँगा।" जीजी चुपचाप पढने का अभिनय करती है। वे दोनो शकित मन से प्रसन्न हो रहे है। दद्दा ने डाँटा—"अच्छा मै कहता हूँ, तुम यहाँ से जाती हो ?" जीजी ने डाँट से भरकर कहा—"मै नही जाऊँगी, मैं नही जाती।" वे दोनो भयभीत होकर देख रहे है। दद्दा

जीजी का हाथ पकडकर घसीटते हुए बाहर कर रहे है और जीजी बल-पूर्वक रुकना चाहती है । अब भइया-दद्दा ने दौडकर माँ को सूचना दी । लेकिन माँ ने आकर दद्दा का पक्ष लिया—"अच्छा तो तू वहाँ गई क्यो ? उस कमरे मे तुम सबको ऊधम मचाने का क्या काम है ?" अपमान और पराजय के क्षोभ मे जीजी रो रही है और दद्दा अपना कमरा अन्दर से बन्द कर लेते है । दोनो भइयो को माँ के अन्याय से निराश होना पडता है ।

मयोग से उसी दिन शाम को पापा दौरे से आ जाते है । फिर उनसे इतने बडे अन्याय की बात कहने के लिए दोनो भाई उत्सुक है । अवसर मिलते ही सागोपाग बडे भइया की ज्यादती का वर्णन पापा से किया गया और साथ मे माँ ने उनका पक्ष लेकर जीजी के साथ जो अन्याय किया, उसका विस्तृत समाचार भी दे दिया गया । पापा ने उनकी बातो की साक्षी जीजी से लेनी चाही, और पापा के सामने जीजी ने आँखो मे आँसू भरकर सब कुछ सिद्ध कर दिया । फिर बडे दद्दा को बुलाया गया और उनसे कारण पूछा गया । बडे दद्दा ने अपनी ऊँची कक्षा के रोब मे कह दिया—"मेरे कमरे मे कोई जायगा तो मैं जरूर निकाल दूँगा ।" बस, पापा के लिए पर्याप्त है, वे किसी की अकड की बात नही सुन पाते—"अच्छा, तुम्हारी यह हिम्मत है, मेरे सामने मेरा-तेरा करता है ! यह तो नही कि सब बहिन-भाइयो को स्नेह से रखे—'निकाल दूँगा'—बडा आया निकालने वाला ! तेरा उस कमरे मे नाम लिखा है ? मीना बेटी, तू उसी कमरे मे पढा कर, इसका जी चाहे जहाँ पढे ।" बडे दद्दा कम बोलते है, वे चुपचाप चले गए । वह खूब प्रसन्न है । भइया-दद्दा अपनी विजय पर फूले नही समाते है ।

दोनो चुपचाप दद्दा के पीछे जाते है । लेकिन दद्दा अपनी सारी पुस्तके कमरे के बाहर रख रहे है । लगता है, जैसे दद्दा बहुत दु:खी है । उनके मन मे दद्दा के लिए सहानुभूति जागती है । वे चाहते है कि दद्दा को प्रसन्न करने का कोई उपाय हो । वह जाकर माँ से कहता है, लेकिन

वह व्यस्त है। वह डाँट देती है—"मैं नही जानती, तुम सब दिन भर मेरा सिर खाते रहते हो। इन सबकी क्या कभी छुट्टी होनी चाहिए !" लौट कर वे देखते है, दद्दा उसी प्रकार पुस्तके बाहर निकाल रहे है और जीजी पुस्तके फिर कमरे मे लाकर लगा रही है। यह क्या है ! दोनो भाइयो को आश्चर्य है। लेकिन यही क्रम कुछ देर चलता रहता है। एक दूसरे को बोलता नही, दद्दा किताबे बाहर लाते है और जीजी उन्ही किताबो को दूसरी ओर ले जाकर लगाती जाती है।

दद्दा कुछ उदास और क्षुब्ध कुर्सी पर बैठ जाते है। जीजी उन्ही के पास कुर्सी पकड कर खडी रहती है। दद्दा इसी प्रकार बैठे रहते है। फिर जीजी के आँसू भर आते है। वह कुर्सी की पीठ की ओर से दद्दा के गले मे हाथ डाल कर भरे गले से कहती है—"दद्दा, मुझे क्षमा कर दो—मै अब ऐसा नही करूँगी।" अरे यह क्या, दद्दा के आँसू बह रहे है। दद्दा रो रहे है। फिर न जाने किस अज्ञात उल्लास मे वहाँ से भाग कर दोनो भाई सीधे बागीचा मे पहुँचते है। आज वह समझ रहा है जैसे जीजी और दद्दा के आँसुओ मे उन्होने आपस के प्रेम को देख पाया था। फिर वे बागीचा मे फूल तोडते रहे, तितलियाँ पकडते रहे और उन्होने न जाने क्या-क्या ऊधम करके माली को सत्रस्त कर दिया।

कोई सडक पर तीव्र स्वर मे गाने की एक कडी चीख उठा। सुन-सान मे बिना ताल-लय का वह स्वर चीख के समान वातावरण मे गूँज उठा। वह बेंच पर अब भी बैठा है। तीव्र स्वर की तरगे उसके कान मे पडकर उसे जगा देती हैं। वह देखता है—सडक की काली रेखा पर बिजली के प्रकाश चमक रहे है और कोई गाता हुआ साइकिल पर तेजी से आगे बढता जा रहा है। स्वर धीरे-धीरे मन्द होकर डूब जाता है। कुछ क्षणो मे प्रतिध्वनि के अतिरिक्त कुछ शेष नही रहता। वह क्रमशः अपनी पिछली कल्पनाओ मे डूब जाता है।

जीजी अब बडी हो गई हैं। बडे दद्दा किसी बडे शहर मे पढने के लिए चले गए है, वे कभी-कभी घर पर आते है। पापा जीजी को भी वही भेजना चाहते थे, पर माँ इसके विरुद्ध है। वह अब माँ के साथ काम-काज मे अधिक व्यस्त रहती है, उन लोगो के खेलकूद मे साथ नही देती। भइया-दद्दा ऊँची कक्षा मे है, वह भी चौथी मे पढता है। एकाएक सुना गया कि जीजी के विवाह की बातचीत हो रही है। विवाह का अर्थ उसके लिए अधिक स्पष्ट नही था—हाँ, इतना वह जानता था कि विवाह के बाद जीजी को कही दूसरी जगह चला जाना होगा। और उसके मन मे उठता—"जीजी क्यो चली जायगी—ऐसा क्यो होता है! ऐसा क्या जरूरी है! विवाह के लिए लडका खोजा जाता है—और लडके-लडकी का विवाह होता है।"

वह जानता है—ताऊजी के बडे लडके रमेश दादा के विवाह मे वह गया था। विवाह मे वे लोग एक लडकी अपने साथ लाये थे। सच-मुच भाभी बहुत अच्छी है। और माँ कहती थी—बडे का विवाह होगा तो उसकी ऐसी ही भाभी आ जायेगी। "लेकिन जीजी का भी विवाह होगा—जीजी भी चली जायेगी। फिर कहाँ मिलेगी जीजी! फिर उसे पढायेगा कौन! फिर वह सोयेगा किसके पास?" सोचते-सोचते उसका मन भर आता है। "जीजी कितनी अच्छी है! जीजी बिना वह कैसे रह सकेगा! माँ ऐसा क्यो सोचती है कि जीजी चली जाय! उसके मन मे भाभी की बात फिर उठती है—"माँ कहती थी कि तेरे भी सुन्दर भाभी आ जायेगी, बडे को नौकर तो होने दे।"

"यह विवाह ऐसा क्यो जरूरी है और भाभी न भी आये तो क्या?" वैसे वह बहुत चाहता कि उसको भी भाभी कहने को मिले—जीजी कही न जाय, भाभी न भी मिले। "लेकिन ऐसा क्यो नही होता—बडे दद्दा का विवाह होना है—जीजी का भी। फिर दद्दा और जीजी का विवाह माँ क्यो नही कर देती। भाभी न आवेगी न सही, फिर भइया-दद्दा जो है। यह सोचकर उसे जैसे बहुत सहारा मिल गया हो।

वह भइया-दद्दा से अपने मन की बात कहने का अवसर ढूँढता है। एक दिन वह उनसे कहता भी है—"जीजी फिर कही नही जायगी।" भइया जैसे इस बात से लज्जित हो कर उसे झिडक देते है—"धत्त, कोई ऐसे भी कहता है! कही ऐसा भी होता है! तू निरा मूर्ख है मुकुल।" वह बेचारा कुछ समझ नही पाता है—आखिर ऐसा क्यो नही होता है! वह खूब सोचना चाहता है, पर उसे तो यह सीधी-सी बात लगती है। लेकिन भइया-दद्दा के भाव और डाँट दोनो से वह फिर किसी से पूछने का साहस नही कर पाता है। पर अपने मन की बात को प्रकट किये बिना रहना भी कठिन जान पडता है। "इतनी सरल बात माँ की समझ मे क्यो नही आती! लेकिन माँ का क्या! माँ कहाँ समझ पाती है कि सूरज पृथ्वी के चारो ओर नही घूमता, वरन् पृथ्वी अपने केन्द्र पर नाचती है। वह माँ से अवश्य कहेगा, लेकिन शायद माँ समझ न सकें।"

रात मे सभी अपने-अपने पलग पर लेटे है। माँ और पापा मे जीजी के विवाह की बात हो रही है। वह इतना ही समझ पाता है। वह जीजी के पास ही सो रहा है। एकाएक उठकर वह माँ के पलग पर चला जाता है और माँ के गले मे प्यार से हाथ डाल कर धीरे-धीरे कुछ फुसफुसाता रहता है और फिर एकाएक भाग कर जीजी के पास लेट जाता है। माँ हँस पडती है—"अरे भाई! सुना आपने। अब तो सब चिन्ता ही मिटी। जानते हो, तुम्हारे मुकुल की क्या राय है? यह लडका भी एक ही है?" पापा उत्सुक होकर पूछते हैं—"क्या बात है मुकुल, अपनी माँ के कान मे क्या कह आये हो?" वह, पता नही क्यो, लज्जा से सकुचित हो कर जीजी की गोद मे मुँह गडा लेता है। माँ कहती है—"मुकुल की राय है कि जब बडे की शादी करनी है और जीजी की भी, तो दोनो का विवाह आप क्यो नही कर देती? जीजी को घर से बाहर क्यो करना चाहती हो?" पापा हँस पडे, वे कम ही हँसते थे। माँ भी हँस रही थी। भइया-दद्दा अपनी चारपाई पर लज्जित होकर बोल उठे—"पापा, मुकुल निरा गधा है।" माँ ने मजाक मे कहा—"लो, आपके लडके

ने आपकी सारी परेशानी ही मिटा दी।" वह इस सारे वातावरण मे अत्यन्त सकुचित हो उठा। लज्जा तथा अपने विश्वास की असारता पर उसे रुलाई भी आ गई। वह रो रहा है। जीजी ने अपनी ओर खीच कर धीरे से कहा—"अरे मुकुल, तू तो सचमुच मे बुद्धू है। मै कही जाऊँगी नही, तू चिन्ता क्यो करता है? विवाह करना जरूरी थोडे ही है!" उसको रोता देख कर औरो को भी दया आ गई। पापा ने समझाया—"मुकुल, तू घबडाता क्यो है, तेरी जीजी ऐसी कहाँ चली जा रही है!"

पास के कमरे मे सिटकिनी खुली। वह सजग हो गया। देखा, रात अधिक बीत चुकी है। वह चुपचाप अपने कमरे मे जाकर कुर्सी पर बैठ गया। फिर उसे लगा, एक सप्ताह पहले आये हुए जीजी के पत्र को पढने के लिए उसका मन उत्सुक हो उठा है। उठकर बिजली का स्विच ऑन करता है। पैड के अन्दर से नीला लिफाफा निकाल कर धीरे-धीरे पत्र खोलता है—

प्रिय मुकुल,

डाक्टर हाज़रा की दवा से लगता है कुछ फायदा है। पर गले का दर्द जैसे अपने स्थान पर रुक गया है। खाने-पीने का वही हाल है, कुछ गले से नीचे नही उतरता। कमजोरी बढती जाती है। बडे भइया और भाभी यहाँ आ गए है, इस कारण मन को बडा सहारा है, उनकी गोद मे लगता है पापा और माँ का स्नेह मिल जाता है। यहाँ हाल ऐसा ही है, तुम जानते हो। मेरे भइया, एक बात तुम डाक्टरो से पूछकर मुझे साफ-साफ लिख देना—क्या गले की टी० बी० होती है और उसमे भी लोगो को बचना चाहिए? शशी को मुझ से दूर रखा जाता है। लेकिन मुकुल, तुम चिन्ता न करना, न घबडाना। तुम्हारी जीजी अभी मरने की नही। और जब से दद्दा और भाभी आ गए है, तब से मुझे स्वय लगता है कि मै अच्छी हो रही हूँ। छोटे नही आ सके, उनको अभी छुट्टी नही

मिल सकी। उसको देखे बहुत दिन भी हुए। मुकुल, शायद भाइयो को बाद मे बहिन की उतनी याद रहती भी नही। तुमको तो छुटपन के दिन याद नही होगे, पर मुझे वह आज की घटना लगती है। हम समझते थे कि वह सब ऐसा ही रहेगा, पर कितना बदल गया है! मुकुल, और बदलता ही जायेगा।

तुम्हारी
जीजी

विदा

शाहजहाँपुर स्टेशन पर डाउन पजाब ऐक्सप्रेस खडी है। खोचे वाले अपने-अपने सधे तेज स्वर से पुकार रहे है। मुसाफिर उतर-चढ चुके है, और अब केवल लोग पान-बीडी, चाय, मिठाई वालो को पुकार रहे है। इस मारे कोलाहल के बीच मे एक किशोर खिडकी से झाँक कर यह सब देख रहा है, पर उसका ध्यान इन सब पर अधिक नही है। वह सब-कुछ देखता हुआ भी किसी कल्पना मे मग्न लगता है। उसकी आँखो के सामने शाहजहाँपुर अधिक व्यक्त हो उठा है, उसके मन मे विचार और भावनाएँ मिल-जुल गई है—

शाहजहाँपुर, हाँ यही तो उसका ननिहाल है। यहाँ से १६ मील लारी पर बैठकर वहाँ पहुँचा जा सकता है। यहाँ का कितना आकर्षण था माँ के मन मे! कुछ दिनो बाद वे बेचैन होने लगती थी, मामा के घर जाने के लिए। पुवायाँ, एक साधारण-सा गाँव और माँ कितनी भाव-विह्वल हो जाती थी उसका नाम आते ही! माँ कितनी बार उससे रुष्ट हुई थी, इस बात को लेकर कि वह ननिहाल नही जाना चाहता। उसे चिढ है—गवई-गाँव से, १६-२० मील कच्ची सडक पर धूल-धूसरित होकर जाना; छोटा-सा गाँव, न रोशनी, न सफाई, कच्चे घिच-पिच मकान, गदी-सँकरी गलियाँ, और सबसे अधिक वहाँ के अशिक्षित लोग—उसे नापसद है यह सब। न जाने माँ को क्या ऐसा अच्छा लगता था, न जाने मामा इन सबके बीच कैसे रह लेते हैं? उस गाँव वह गया नही, उसे देखा भी नही, पर उसके मन मे उस गाँव की जो कल्पना है, उससे उसे वितृष्णा है। वहाँ के किसी व्यक्ति की भी याद उसे नही आती·· बडे मामा की याद उसे है, वे उसके यहाँ आते रहते है···उनसे

उसे स्नेह भी है। पर छोटे मामा को उसने एक-आध बार ही देखा है, और मामी तथा भाई-बहिनो को तो उसने देखा ही नही।

माँ की याद ने उसे अधिक सवेदनशील कर दिया है। माँ जब-तब उससे कह देती—'तू बड़ा निर्मोही है नीलू, क्या तेरा ननिहाल जाने का कभी जी नही चाहता ? तुझे किसी की याद भी नही आती, वहाँ तेरी मामी कितना प्यार करती है तुझे और छोटे-छोटे भाई-बहिन है तेरे, तुझे दद्दा-दद्दा कहकर पूछते है।' माँ की बात वह ठीक नही समझ पाता है। जिसे उसने देखा नही, उसकी याद वह कैसे करेगा, अपरिचित को कोई कैसे प्यार करता है ! वह कभी माँ से कह देता—'माँ, तुम भी विचित्र हो, मैंने तो उन्हे कभी भी देखा नही, फिर कैसे याद करूँगा ?" माँ झुँझला कर कहती—'अपना खून कही देखने की राह देखता होगा, फिर वहाँ जाने से ही तो देख सकेगा।' माँ कुछ रुक कर स्नेह-भरे स्वर मे कहती—'और मुझे तो सदेह है नीलू, कि तू मुझे भी कभी याद करता होगा।' यह बात उसे असह्य है। वह कैसा भी क्यो न हो, उसे अपनी माँ की याद व्याकुल कर देती है। हॉस्टल मे, उसे याद है, दिन भर के क्लान्त जीवन के बाद रात मे अकेले वह अपनी माँ को कितना याद करता है, उसका जी चाहता, वह इसी समय घर के लिए चल पड़े। और अब जब वह नही है, तो उसका मन भर आता है, लगता है कि वह अपना मन खूब रो-रोकर हल्का कर लेना चाहता है। और वही माँ जब कह देती थी—'नीलू, तू मेरी भी कभी याद करता होगा ?' वह मन ही मन रुष्ट हो जाता। माँ समझ लेती और उसके गाल पर हल्की चपत लगा कर आँसू-भरे नेत्रो से उसे देख लेती।

'माँ जब थी, वह उनकी बात को कम ही मानता था। पर आज न जाने इस स्टेशन का क्यो मोह-सा हो रहा है ! उसे अनायास उस दूर के कस्बे की याद आ गई है, जिससे वह नितान्त अपरिचित है और जिस रूप की वह कल्पना कर पाता है, वह उसे अरुचिकर ही लगा है। लेकिन उस कस्बे के साथ आज उसे कुछ और भी याद आ रहा है। उसकी मामी

उसे बहुत प्यार करती है, माँ कहती थी। और उसके वहाँ छोटे-छोटे भाई-बहिन है। .....छोटे भाई-बहिन ....उसका मन कुछ रुकता है। उससे भी छोटे......अपने घर मे तो वह सबसे छोटा है। राजे जीजी, पीलू दद्दा, छोटे दद्दा, बडे दद्दा, सभी बडे है उससे। उससे छोटा कोई भी नही है। और वहाँ ....उस कस्बे मे उसके छोटे भाई-बहिन .. है... . उससे भी छोटे। कैसे होगे वे..... वह कल्पना कर लेना चाहता है।

इजिन सीटी दे रहा है, उसने देखा, गार्ड सीटी देकर हरी झडी दिखा रहा है। उसका ध्यान स्टेशन पर चला जाता है। सौदा बेचने वालो के कर्कश स्वर से मन टकरा जाता है। ट्रेन धीरे-धीरे चल देती है। उसकी दृष्टि मे टहलते हुए तहमद पहने लोग आ जाते है—उनकी लफगी और आवारा सूरत से मन वितृष्णा से भर जाता है। उधर से वह अपना मुँह फेर लेता है।

लगभग एक वर्ष बाद—

ऐक्सप्रेस बरेली स्टेशन से चल कर कई स्टेशन छोड चुकी है। एक कम्पार्टमेट की खिडकी पर एक किशोर झुका हुआ ट्रेन की निरन्तर गतिमय ध्वनि से अपने को अलग कर बाहर ढलती हुई धूप मे फैले हुए हरे-भरे खेत और वृक्षो से अपना मन उलझाये हुए है, पर बहुत समय से उसके मन मे कुछ विचार आकर उलझ-उलझ जाते है। अगला स्टॉपेज शाहजहाँपुर है।

'......पिछले वर्ष माँ की बरसी मे बडे मामा आये थे .. कितने स्नेहशील है वे, माँ का स्मरण आते ही उनकी आँखो मे आँसू झलक आते है, गला भर आता है! मामा पहले भी अनेक बार आये है, पर इस बार उसे ऐसा लगा, जैसे माँ की ही छाया मामा मे है। बडे

मामा आर्द्र स्वर मे कहते है—'भइया, यह कैसा नया जमाना आ गया है! अपनो से दूर रहना ही आज का फैशन गिना जाता है। जब तक जिआ थी, उन्हो ने इस घर और हमारे घर मे कोई भेद नही माना। उनके न रहने से वह बात कहाँ! लेकिन बडे भइया तक रख-रखाव है। नही तो नये बाबू लोगो को अपना 'परिचय' देना पडेगा।'

मामा कह रहे थे, और वह समझता था कि यह उसी को लक्ष्य कर के कहा जा रहा है। वह समझ रहा है कि मामा की इस शिकायत मे, उनके मन की ममता ही है। वह कुछ लज्जित होकर कह देता है—'मामा, आप मेरा ही दोष देगे—इसमे नये-पुराने की क्या बात है? क्या आप समझते है कि मुझे कभी अपने ननिहाल को देखने का जी नही चाहता? पर कभी आपने बुलाया ही नही।' वह अनायास ही अपनी सफाई देते-देते मामा का हृदय दुखा देता है, इस बात का उसे ध्यान ही नही रहा जैसे।

मामा व्यथित होकर कहते है—'अरे भइया, बुलाने की क्या बात है, उस घर मे तो तुम्हारा सारा अधिकार है; लेकिन यह क्या बात है कि जब तक बुलाया न जाय, जायेगे ही नही। यह फिर वही साहबाना बात है। भइया, जब अपना मानो तो गये बिना चैन ही नही पडेगी। बुलाने पर जाना तो आपसदारी है, निभाना पडता है। असली आना-जाना तो प्यार-सम्बन्ध का होता है।'

मामा की आँखो मे किसी स्मृति के आँसू झलक आये है उनके गले मे कुछ रुँधन है, पर वे किसी प्रकार कहे जाते है—'एक हम भाई-बहिन थे कि दो-चार महीना भी बिना देखे चैन नही पडती थी। जैसे ही घर मे भी थी कि जीजी के पास न रह ले कुछ दिन तो उनको सब सूना लगने लगता था। खैर, वे दिन तो बीती बात हो गए······लेकिन भइया, कभी उधर से निकलो तो हो लेना चाहिए। माना, पढने-लिखने वाले लडके हो, पर आये-दिन इतनी छुट्टियाँ तो पडती ही रहती है। ····· और भइया, विदा और मीनू ने न जाने कहाँ से तुमको जान लिया

है। जब-तब पूछा करते है कि 'छोटे दद्दा क्यो नही आते ?' विदा तो बिल्कुल जिम्रा को पडी है—स्वभाव से, रूप मे। वह तो तुम को जैसे जनम-जनम से जानती है। मुझ से तुम्हारे बारे मे पूछती नही अघाती—'छोटे दद्दा क्या पढ गए है ? उन्होने क्या बहुत-बहुत पढ लिया है ? वह आते क्यो नही है ? मुझे तो उनकी इतनी याद आती है, उन्हे क्यो नही मेरी याद आती। ताऊ जी, तुम उन्हे क्यो नही बुलाते। नही, वे जरूर आयेगे। लिख दो, विदा तुम्हे बुलाती है।'—उसके इतने सारे सवालो का क्या जवाब दूँ ! माँ कभी सुन कर खीझ भी उठती है—'बडी आयी है दद्दा वाली, तेरे अनोखे ही दद्दा है। दद्दा तो कभी बात भी नही पूछते और बहिन कुम्हलाती रहती है ? वह बेचारी लज्जित हो जाती है। मै समझा देता हूँ कि नही, तुम्हारे दद्दा बहुत अच्छे है, विदा, · ·· वे तुमको बहुत चाहते है। उसको बहुत लिखना-पडना पडता है, अब वह जरूर आयेगा। सो भइया, कभी उसी का मन रख लो। बरेली होकर पहाड आते-जाते शाहजहाँपुर रस्ते मे पडता है · ···फिर वहाँ से आठ कोस का और कष्ट है। माना, सडक बहुत खराब है, पर अपनो के लिए इतनी तकलीफ तो उठानी ही पडती है !'

सड-सड-सड करता एक छोटा-सा स्टेशन निकल गया। उसकी पास की बर्थ के एक सज्जन ने अपना सामान ठीक करना शुरू कर दिया। उनके साथ की स्त्री ने पूछ लिया—"क्या, अगला ही स्टेशन है ?" युवक अपने कम्पार्टमेट मे यह सब देख-सुन लेता है। और फिर बाहर ही दृष्टि जमाता है। मामा की बाते जैसे उसके मन मे गूँज रही हो। और साथ ही उसके आगे विदा का अपरिचित रूप उभरने लगा। किशोर ने कभी उसे देखा हो, ऐसा नही—केवल कल्पना मे दिया हुआ रूप, दुबला-सा शरीर, गोरा सुन्दर मुख और पतले होठ। और सबसे प्रत्यक्ष निर्मल भोली आँखें उसके सामने प्रत्यक्ष हो जाती है। फिर उसके मन मे जैसे एक ध्वनि बरबस कह रही हो—'ताऊजी, मुझे तो छोटे दद्दा की

इतनी याद आती है, उन्हे मेरी याद क्यो नही आती । वे यहाँ आते क्यो नही ?' उसका मन अज्ञात आकर्षण से भर जाता है, वह अपने मन मे सोच लेता है—अभी एक सप्ताह विद्यालय खुलने पर भी पढाई-लिखाई कुछ होनी नही, क्यो न मामा का कहना कर दिया जाये ! 'कुछ कष्ट हो सकता है, फिर भी अपनो से कभी तो मिलना चाहिए ।' बडे मामा की डबडबायी आँखे और स्नेहार्द्र कण्ठ अनायास ही उसको स्मरण आ रहा है । वह अपना टिकट निकाल कर देखता है, लिखा है—काठगोदाम से बनारस। फिर उसे जेब मे डालकर अनुभव करता है कि ट्रेन धीमी हो रही है और प्लेटफार्म आ गया है । ट्रेन रुक जाती है । वह एक बार होल्डाल और अपने सूटकेस को देखता है, फिर उतरते हुए उन स्त्री-पुरुषो को । घर जाने से पहले दशहरे तक वही बिताना है—सामान अधिक है, टिकट भी सीधा है । लेकिन मामा ने कहा था—'आते-जाते भइया उत-रने मे क्या लगता है—और थोडा-सा कष्ट अपनो के लिए उठाना ही चाहिए ।' उसके कम्पार्टमेट मे अधिक लोग नही है—वह उद्विग्न होकर खडा हो जाता है, अपना हाथ पैंट की जेब मे डाल लेता है । और एक नज़र अपने सामान पर फिर डालता है, जैसे उसे समेटने मे व्यस्त हो । उसी समय बाहर से कुली पुकार लेता है—'कुली !' इस कर्कश स्वर से उसका मन फिर तन जाता है । झटके के साथ वह सोच लेता है—'वह नही उतरेगा ।' वह अपनी बर्थ पर चुप बैठ जाता है । कुली चला गया । किशोर के मन मे विदा भोलेपन से जैसे कह रही हो —'ताऊजी, तुम उन्हे बुलाते क्यो नही, नही, वे ज़रूर आयेंगे । लिख दो, तुम्हे विदा बुलाती है ।' उसकी निर्मल आँखे उसके मन पर इस वाक्य को अधिक व्यक्त कर जाती है । और वह उसी प्रकार बैठा है । फिर उसे एकाएक धक्का लगा, ट्रेन से इजिन जोडा गया था । वह एकदम खडा होकर फुर्ती से दरवाज़े को हैण्डिल दबा कर खोलता है, और आवाज देता है—'कुली, कुली !' कुली अब तक जा चुके थे, एक दूर खड़े कुली के कान मे आवाज़ पडी, वह मद गति से उसकी ओर बढा।

पर युवक को जल्दी है—वह रुक नही सकता, उसे उतरना है, गाडी शीघ्र ही खुलने वाली है, इजिन लग चुका है, गार्ड ने हरी झडी निकाल ली है, वह अन्दर आकर स्वय ही जल्दी-जल्दी सामान उतारने लगा—लगभग सामान फेक रहा था। उसी समय कुली ने आकर सहायता की।

जब सामान उतर चुका और किशोर भी नीचे आ गया, उसकी व्यग्रता कुछ कम हो गई। कुली ने सूटकेसो को एक-दूसरे पर रखते हुए कहा—'वज़न ज्यादा है।' उसने बिना ध्यान दिये कह दिया—'एक कुली और बुला लो।' कुली ने उसी प्रकार कर्कश स्वर मे कहा—'नही साहब, सामान इसका दूना मै ही ले जा सकता हूँ, लेकिन वज़न ज्यादा है और इसकी निकलाई दो से कम न लूँगा।' वह उसके कर्कश स्वर से चिढ रहा था, उसपर इस गुस्ताखी से झल्ला गया—'अच्छा', और साथ ही उसने कुली का हाथ पकडकर झटक दिया—'चल दो, अपना रास्ता देखो! मुझे नही ले जाना है अपना सामान।' इस झगडे से आकर्षित होकर दो-चार तहमदधारी सैर करने वाले जमा हो गए, इससे वह और भी चिढ रहा था। पर उन्होने कुली को ही डाँट बतायी—'तुमसे क्या, सामान ज्यादा है तो टिकट बाबू समझ लेंगे, तुम अपना काम देखो।' कुली कुछ सीधा पड चुका था। वह सामान सिर पर उठा कर आगे-आगे चल दिया। गेट पर बाबू के हाथ मे जब वह अपना बनारस तक का टिकट रख कर आगे बढ गया, तो टिकट बाबू उसको उलट-पलट कर देखते रह गए, और वह बाहर निकल चुका था।

लगभग एक वर्ष बाद—

अप पजाब-मेल से वही किशोर यात्रा कर रहा है। हरदोई स्टेशन छूटे काफी समय हो चुका है, और दो-तीन छोटे स्टेशन भी निकल गए है। सध्या हो रही है, पर कम्पार्टमेट का स्विच ऑन न होने के कारण उसमे प्रकाश धुँधला हो गया है। लेकिन उसका ध्यान कही अन्यत्र है। उसे याद आता है, चलते समय बडे भइया का पत्र मिला था कि मामा

के यहाँ एक दिन रुक कर फिर नैनीताल जाना। उसके मन मे गूँज रहा है—वह अपने खोते हुए भावो के, मिटते हुए विचारो के केन्द्र मे बर-बस यह लाना चाहता है—मामा के यहाँ जाना होगा—शाहजहाँपुर स्टेशन पर उतरना होगा। क्यो? आखिर वह रुकेगा क्यो? भइया ने लिखा है। बाहर के हल्के धुँधले प्रकाश मे आम-जामुन के वृक्ष नृत्य करते भाग रहे है, और किशोर के मन मे भी ऐसा ही कुछ धुँधला अस्पष्ट नाच रहा है। बाहर का घना होता धुँधलापन उसे अधिक सवेदक बना रहा है। ट्रेन की गति के साथ उसके मन की अस्पष्ट बात गहरी होती जाती है।

'अभी पिछली जुलाई की बात है, पर लगता है, ऐसा जैसे युग बीत गए—ससार बदल गया हो। पहाड से लौटते समय जब वह अनायास ही अपने मन के विपरीत शाहजहाँपुर के स्टेशन पर उतर पडा था। इतनी हाल की घटना इतनी दूर कैसे लगने लगती है, जैसे नियति के काले परदे ने उस व्यवधान को घने घुप अँधेरे मे बदल दिया हो।'

किशोर एक टूटे-से इक्के पर अपना सामान लादे, लारी के अड्डे पर खडा भीग रहा है। वह उस अनिश्चित बारिश से भीग तो गया ही है, साथ ही अप्रत्याशित परिस्थितियो मे अपने को पाकर व्याकुल भी हो उठा है। उसे लगता है कि मामा के गाँव के लिए लारी नही मिल सकेगी, न आज वह मामा के घर पहुँच सकेगा। और वह अकेला इस अजाने देश मे कैसे रहेगा, उस पर बरसात मे यह टूटा इक्का! कदाचित् जो बात उसे सबसे अधिक उद्विग्न कर रही है—वह है उस तहमद वाले एक्केवान की आवारा सूरत। एक परिचित होने के आतक ने जैसे उसे घेर रखा है इसी के बीच कही कोई आकर्षण उसके मन पर हलकी-हलकी प्रसन्नता की फुरहरी छोड रहा है—पर बाहरी आतक मे यह बात बिल्कुल दब गई है। इसी बीच इक्का वाला कहता है—'साहब अपना सामान उतारिये।' किशोर कुछ सचेष्ट होता है, वह उतर कर

लारी के पास गया, और पूछता है—'क्या यह लारी पुवायाँ जायगी ?' पानी बरसने के कारण लारी की खिडकियाँ यथासम्भव बन्द कर ली गई थी। ड्राइवर अथवा किसी अन्य ने उत्तर दिया—'हाँ हाँ, जाना हो तो जल्दी बैठ जाओ।' किशोर को यह उत्तर निरा कर्कश लगता है, वह पूछ लेता है—'भई, कोई सामान-आमान भी रखवायेगा, कैसे बैठ जाऊँ ?' अन्दर से वैसी ही उपेक्षा की आवाज आयी—'जहाँ जी चाहे रख लो, यहाँ कोई नौकर नही है।' किशोर अवाक् है, हैरान है—विचित्र देश है, विचित्र लोग है। उसे लगता है, जैसी वह कल्पना करता था, यह देश बिल्कुल वैसा ही है। उसी समय इक्का वाला अपने स्थान पर बैठा ही बैठा बोल उठा—सामान उतारिये साहब, हमको कोई दिन भर आपके साथ ही नही रहना है।' किशोर तिलमिला उठा, उसने कठोर स्वर मे कहा—'तो उतारते क्यो नही ?' इक्कावाला टर्राया—'जनाब, मै कुली नही हूँ।' उसका क्रोध बढ चुका था—'तो क्या आप नवाबजादे है।' इक्का वाला गरम पडा—'जबान सँभालकर बात करना !' बात पूरी भी न हुई थी कि किशोर का शासक मन तन गया, उसका खेलाडी शरीर इक्के वाले पर उछल पडा। इक्का वाला देखने मे पहलवान लगता था, पर किशोर ने उभक कर उसकी गर्दन पकड ली। लेकिन उसी समय कोई पीछे से उसका बायाँ हाथ पकड कर खीचता हुआ कहता है—'नीलू बबुआ, अरे ऐसा नही करते, विदेश मे ऐसे झगडा नही किया जाता।' किशोर के कानो मे इस आवाज ने विचित्र प्रभाव उत्पन्न किया। उसका क्रोध उतर गया—साथ ही क्रोध के पीछे एक अपरिचित वातावरण के भय की भावना, जो उसे घेरे हुए थी, फट चली। उसका हाथ ढीला पड गया और वह मुड कर देखता है—सामने सफेद अचकन पहने खडे सम्भ्रान्त वृद्ध उसका बायाँ हाथ थामे स्नेह से उसकी ओर देख रहे है। किशोर को जैसे एकाएक कोई सहारा मिल गया हो। उसके मुँह से निकल गया—'बडे मामा, आप !'

इसके बाद उसके मन से सारी घटना मिट जाती है—केवल याद

आ रहा है—लारी चल रही है कीचड मे धचके खाती हुई, और मामा कह रहे है—'देखो भइया, सडक बहुत खराब हो गई है, लेकिन अब जल्दी ही बनने वाली है।' फिर मामा स्नेह से उसका हाथ पकड कर कहते है—'नीलू, तुमने मेरा कहना कर दिया, मेरी आत्मा सतुष्ट हो गई। और भइया, पता नही विदा कैसे कह रही थी कि इस बार दद्दा जरूर आयेगे—वह तो मारे खुशी के नाच उठेगी, तुमको पाकर। मै तो सोचता हूँ तुम दोनो पहले जन्म मे अवश्य भाई-बहिन रहे होगे।' इसके बाद वह मामाजी की अनेक बाते सुन नही सका। मामाजी भी उसको अपने-आप पर छोड कर लारी के अपने साथियो से उसके बारे मे बाते करने लगे। सारी लारी जैसे उसकी परिचित हो—और सभी उसकी ओर स्नेह से देख रहे हो। पर वह अपने-आप मे लीन है…उसके मन मे विदा की कल्पना उभर आई है—दुबली-पतली किशोर लडकी, शिशु जैसी सरल, पतले ओठो और निर्मल आँखो वाली। उसका मन भी कह देता है—'उस जन्म मे भी विदा ज़रूर मेरी बहिन होगी।'

किशोर पीठ के बल धोक लगा कर बैठे-बैठे जैसे थक गया हो। वह उठ कर बैठ जाता है। और खिडकी पर कोहनी टेक कर, अपने गाल पर हाथ रख कर वह बाहर के घने होते अधकार को देखता रहता है। ट्रेन उसी वेग से चली जा रही है।

एक देहाती उसका सामान सिर पर लेकर चल रहा है और वह मामाजी के साथ घर जा रहा है। उसके मन मे अनेक नवीन कल्पनाएँ जैसे मिल-जुल गई है—वह अलग-अलग कुछ सोचने की स्थिति मे नही है—केवल एक तीव्र सुख की अनुभूति उसे हो रही है।

एकाएक मामाजी एक ऊँचे पक्के मकान के सामने खडे होकर पुकार लेते है—'विदा, विदा!' किशोर सुन कर अपनी तन्द्रा से चौकता है, और सामने देखता है—तो विदा खडी है, वह उल्लास मे कह जाती

है—'ताऊ जी !' फिर उस पर दृष्टि पडते ही, लजा कर ताऊजी का झोला लेकर अन्दर भाग जाती है। अन्दर से नौकर आकर सामान रखने-रखाने लगता है। और वह मामाजी के साथ घर के अन्दर प्रवेश करते हुए सुन लेता है—'अम्मा मै कहती न थी—छोटे दद्दा आ गए।' उसके स्वर मे उल्लास के साथ गर्व भी था।

किशोर आगन मे पहुँच कर खडा हो जाता है, सकोच से हतप्रभ-सा। सामने एक पतली साधारण कद की गोरी स्त्री दो अगुल घूँघट काढे मुसकरा रही है और विदा उसका हाथ हिला कर कह रही है—'और अम्मा मानती ही न थी।' स्त्री ने अपना हाथ छुडाते हुए मामा से पूछ लिया—'दादाजी, छोटे भइया को कहाँ से पकड लाये ?' फिर वे उसी को सबोधित करके कहती जाती है—'बडे भाग है भइया, जो तुमने इस घर को पवित्र किया।—भइया, जीजी नही है, अब तुम्ही लोगो का आसरा है।' इतना कहते-कहते उनकी आँखो मे आँसू छलक आते है। किशोर इस अपरिचित प्रगाढ़ता मे जैसे डूब गया, उसने अभी तक सकोच मे सामने खडी स्त्री को प्रणाम भी नही किया था। पर अब उसने भरे स्वर मे प्रणाम किया। मामीजी ने उसके उत्तर मे केवल आँखो मे भरे आँसुओ को रिक्त कर दिया। मामाजी किसी प्रबन्ध के लिए अथवा अपने आँसुओ को छिपाने के लिए यह कहते हुए वहाँ से चले गए—'छुट्टन अभी गाँव से लौटे नही।' पर जैसे उन्हे किसी उत्तर की अपेक्षा नही है। पहले विदा कुछ स्तब्ध है, फिर उसकी मृगी-जैसी भोली आँखो मे आँसू छलक आये। किशोर जैसे इस स्थिति मे स्वय रो पडेगा। मामीजी को विदा के आँसू देख कर कदाचित् वस्तु-स्थिति का ध्यान हुआ। आँचल से अपने नेत्रो को सुखाते हुए उन्होने प्यार से विदा को डाँटा—'पगली, ऐसे कोई रोता है ! चाहिए था—भइया आया है, उसे बिठाती, मुँह-हाथ धुलाती, जलपान कराती, कितनी दूर से आया है वह और ऊपर से लगी रोने !' विदा उन्ही आँसुओ के बीच जैसे मुस्करा दी—'आप तो रोती है, और कहती है······।'

ट्रेन लय से चली जा रही है। किशोर दोनो हाथो से खिड़की पर झुका बैठा है। सामने आकाश मे एक ओर अकेला तारा चमक रहा है और भागती हुई ट्रेन के साथ घने होते अधकार मे एकमात्र तारा उसके मन के साथ चल रहा है।

किशोर के पास सट कर बैठी हुई विदा उससे पूछ लेती है—'छोटे दद्दा, तुम मुझे कैसे पहचान गए ?' उसे कम आश्चर्य नही है कि विदा की जैसी कल्पना वह करता था, विदा बिल्कुल वैसी ही है। वह उत्तर देता है—'वाह, तू ही मुझे कैसे याद करती थी, देखा था तूने कभी मुझे ?' वह उत्साह से बोल उठती है—'जानूँगी क्यो नही। जब मैं छोटी थी, बुआ तुम्हारी सब बाते बताती थी। तभी से मैंने पहचान लिया।' किशोर को लगा, कैसी मूर्खता की बात है, किसी के बताने-भर से कोई कैसे पहचान लेगा! लेकिन वह स्वय जो इसी प्रकार पहचानता आया है। वह स्वीकार करना नही चाहता—'तुम तो निरी बुद्धू हो विदा, ऐसे कोई पहचानता है!' विदा सहज ही स्वीकार कर लेती है—'सो मैंने तुम्हारी जितनी पढाई कहाँ की है! लेकिन क्या मैं अपने दद्दा को भी नही जानूँगी ?' इसपर किशोर कह देता है—'लेकिन विदा, हमारे यहाँ तो तुम्हारे कई दद्दा हैं!' विदा ने नि.सकोच कह दिया—'वे तुम्हारे और राजो दीदी के दद्दा है; मेरे अपने दद्दा तो तुम ही हो।' उसी समय मानू दौडता हुआ आ कर 'दद्दा, दद्दा' कहता किशोर की गोद मे चढ जाता है। विदा से वह कहता है—'लेकिन मै मानू का भी दद्दा हूँ।' मानू को सँभालते हुए विदा ने उत्तर दिया, जैसे उसका हिसाब बहुत स्पष्ट है—'मानू की जीजी तो मै हूँ।' फिर वह उसको समझाती हुई कहती है—'मेरे भइया ऐसे दगा नही करते। तुम तग करोगे तो दद्दा चले जायेगे।' मानू जीजी के गले मे हाथ डाल कर झूलता हुआ बोला—'जीजी, दद्दा गुस्सा हो जायेगे, चले जायेगे ?' विदा ने समझाया

—'हाँ अगर तुम शरारत करोगे, तो दद्दा चले जायेंगे—गुस्सा हो जायेंगे।' मानू शकित होकर कह देता है—'तो दीदी, मै शरारत नही करूँगा, दद्दा अब तो न जायेंगे ?' किशोर उसे प्यार करते हुए कह देता है—'हाँ, अब मै नही जाऊँगा।'

विदा फिर अपनी भोली आँखे उठा कर प्रश्न करती है—'तुम मेरी याद नही करते थे दद्दा ? मैं तो बहुत याद करती थी तुम्हारी।' किशोर सकोच के साथ जवाब देता है—'क्यो नही, मै भी करता था।' मानू गोद से उतर कर यह कहता हुआ मामीजी के पास भागता है—'अम्मा, मैं शरारत नही करूँगा, दद्दा नही जायेंगे।' विदा कह रही है—'दद्दा, तुम्हे कहानी खूब आती होगी ?' किशोर—'क्यो ?' विदा सहज भाव से ही कहती जाती है—'तुमने खूब पढाई जो की है, बडे शहर मे ऊँची ऊँची कक्षा मे पढते हो।' वह हँस देता है—'पगली, तो क्या वहाँ कहानी ही पढाई जाती है।' विदा लज्जा से आँखे झुका लेती है। किशोर ने कहा—'लेकिन मै तुमको कहानी सुनाऊँगा।' वह फिर सहज भाव से पूछ लेती है—'दोपहर मे ?' किशोर—'दोपहर मे कोई कहानी कहता है, मामा रास्ता भूल जाते है।' विदा—'तो फिर रात मे ?' किशोर ने हाँ कर ली। विदा की आँखो मे स्नेह झाँक गया—'हमारी बुआ बहुत अच्छी कहानी जानती थी, उन्ही से सीखी होगी आपने।' उसकी आँखो मे बरबस ही आँसू आ गए। उसी समय मामीजी की आवाज़ आती है—'अरी विदा, तू दद्दा को बकाये ही जायगी, न नाश्ता को पूछना, न न पानी को—बस गप ही लगायेगी।'

विदा आँसुओ के बीच मुस्करा पडी और यह कहती माँ के पास चली गई—'कहाँ माँ, दद्दा बहुत पढ-लिख गए, उनको भूख ही नही लगती।'

कम्पार्टमेट मे किसी यात्री ने प्रकाश कर दिया था। किशोर ने एक बार अन्दर देखा, उसके दो सहयात्रियो मे से एक भोजन की तैयारी कर

रहे है, और दूसरी जो स्त्री है, लेट कर कोई पुस्तक पढ रही है। उसने फिर बाहर के शून्य मे ही अपने को मिला दिया, जैसे उसी मे उसका कुछ खो गया हो।

रात मे किशोर के साथ मानू लेटा है और गले मे हाथ डाल कर कहता है—'दद्दा, कहानी।' पास ही एक ओर मामी की चारपाई है और दूसरी ओर विदा की। विदा कहती है—'दद्दा, मेरी ओर मुँह करना। माँ तो अभी सो जायँगी, मुझे कहानी सुननी है।'

मामीजी कहती हैं—'क्यो तू ही क्यो सुनेगी, मै क्यो नही सुनूँगी! भइया को तो बहुत अच्छी कहानी आती होगी।' विदा हँस देती है—'हाँ-हाँ, सुन चुकी, लेटते ही तो सो जाती हैं। एक कहानी भी तो पूरी सुना नही पाती।'

सब सो चुके है। किशोर कोई भावुक कहानी सुना रहा है। उसे लगता है जैसे विदा सिसकियाँ ले रही है। वह पुकार लेता है—'विदा!' विदा चुप। वह समझ जाता है—'तू रोती है, कहानी मे रोती है। मैं नही सुनाऊँगा कहानी।' विदा सिसकी को रोकते हुए कहती है—'नही, मैं कहाँ रोती हूँ! आपकी कहानी बहुत अच्छी है दद्दा।' किशोर की कहानी फिर आगे बढती है। पर विदा 'हूँ' कह कर भी जैसे कम ध्यान दे रही है। किशोर को भान हुआ, उसने पूछा—तुम सुन रही हो कहानी?' विदा ने धीरे से कहा—'हाँ, सुन क्यो नही रही!'

फिर कहानी आगे बढती है, लेकिन कुछ रुक कर। विदा एक प्रश्न पूछ लेती है—'दद्दा, आपने बहुत किताबे पढी होगी?' किशोर समझ रहा है कि वह बातचीत करना चाहती है। वह कह देता है—'बहुत, विदा। हमारे यहाँ एक बहुत बडा पुस्तकालय है, जिसमे हम पढा करते है।' विदा ने कौतूहल से पूछा—'कितना बडा?' किशोर ने सहज ही

उत्तर दे दिया—'बहुत बडा, इस अपने मकान से बहुत बडा।' विदा चकित है—'हजारो किताबे होगी ?' 'किशोर—लाखो।' विदा—'कैसे पढ लेते है सब, मै तो कुल आठ दस किताबे पढ सकी हूँ।' किशोर ने हँस कर कह दिया—'अरे सब एक ही आदमी तो पढ नही लेता।'

विदा कुछ देर मौन रह कर कहती है—'अच्छा दद्दा, ताऊजी कहते थे कि तुम्हारे स्कूल मे बडी-बडी लडकियाँ ऊँची-ऊँची कक्षाओ मे पढती है ?' वह वैसे ही उत्तर देता है—'हाँ।' विदा—'उन्हे लाज नही आती ?' 'लाज क्यो आयेगी ?'—'किशोर अनायास ही कह जाता है। विदा कुछ देर चुप रह कर कहती है—'तो मै भी आपके साथ वहाँ पढूँगी।' किशोर—'लेकिन वहाँ जाने के पहले १० कक्षा तक पढ लेना होता है। विदा—'पर कहाँ पढना होता है ? शाहजहाँपुर ?' किशोर—'हाँ।' विदा निराश स्वर मे कह देती है—'वहाँ तो ताऊजी भेजेंगे नही, हमारे स्कूल मे तो ७ तक पढाई होती है।' फिर कुछ सोचकर—'अच्छा दद्दा, मै इस वर्ष कक्षा ७ पास कर लूँगी, फिर तुम्हारे पास रह कर कक्षा १० तक पढाई करूँगी। तुम पढा सकोगे ? तुम तो खूब ऊँची कक्षा तक पढे हो !' उसके स्वर मे सतोप है।

उसी समय मामीजी की नीद खुल जाती है, उन्होने उनको अभी तक जागते जान विदा को डाँटा—'अरे, तू अभी तक दद्दा को जगा रही है, उसे सोने भी देगी, या रात-भर कहानी ही सुनेगी।' किशोर अपने-आप सफाई दे देता है—'अब समाप्त ही हुई मामी, अभी समय ही क्या हुआ है !'

ट्रेन किसी स्टेशन को पार कर गई, पर किशोर अपनी भावना मे बहता जा रहा है, जैसे अथाह जल-राशि मे विवश होकर उसने अपने को लहरो के थपेडो मे छोड दिया हो।

किशोर वापस जा रहा है, छोटे मामा लारी पर सामान के साथ चले गए है। बडे मामा का गला भर आया है, उनकी आँखो मे आँसू आ रहे है। मुख से केवल इतना ही कह पाते है—'जीते रहो बेटा, तुम सब हमारी जिया के चिह्न हो। तुम्हे देख जैसे जिया को पा जाता हूँ।' मामी भी अश्रुपूर्ण नेत्रो से उसके सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद देती है—'खूब पढो भइया, अच्छी-अच्छी बहू घर आये। कभी-कभी हम गरीबो को भी इसी प्रकार प्रसन्न करते रहना !' और विदा मानू की अँगुली पकडे खडी है—नीरव और उदास, जैसे उसका सारा उत्साह समाप्त हो गया हो। वह भाई को समझा रही है—'मानू, दद्दा को प्रणाम करो, जिद्द नही करते। दद्दा तुम्हारे लिए मिठाई और खिलौने लेने शहर जा रहे है।' मानू अपना हाथ खीचता हुआ कहता है—'हूँ हूँ जीजी, मै भी जाऊँगा दद्दा के साथ।' वह अधिकार के स्वर मे मानू को मना करती है—'नही, मानू अच्छे लडके जिद्द नही करते।' फिर वह भोली निर्मल आँखो को उठा कर किशोर को देख लेती है, और वे छलछला आती है। विदा आँखे नीची कर लेती है। किशोर इस वातावरण से जैसे विह्वल होकर रो पडना चाहता है। इस बधन से निकलने मे जैसे उसे अथक प्रयास करना पड रहा है। उसने अपने मन को दृढ करते हुए कहा—'विदा, मै आता रहूँगा—तुम रोती क्यो हो !'

मानू को नौकर ले गया था। विदा ने फिर अपनी दृष्टि ऊपर की, उसके बडे-बडे आँसू सुन्दर कपोलो पर ढुलक गए और उसने सिसकियो मे कहा—'तुम आ सकोगे दद्दा, तुमको छुट्टी जो नही मिलती है !' किशोर के लिए यह सब असह्य हो रहा है, उसने बल दे कर कहा—'नही विदा, मै जरूर आऊँगा, जरूर आऊँगा। अगली गर्मी की छुट्टियो मे पहाड जाते हुए।'

विदा ने सिसकी दबाते हुए कह दिया—'जरूर-जरूर आना, मैं प्रतीक्षा करूँगी तुम्हारी।' उसने हाथ जोड दिये—सुन्दर छोटे-छोटे से। किशोर ने सबको प्रणाम करते हुए बरबस कह दिया—'और देखा,

विदा, पत्र डालती रहना !' विदा आँसू और सिमकियो के बीच मुसकरा उठी—'तुम जवाब दोगे'—'हाँ, हाँ क्यो नही।' उसने मुड कर एक बार विदा को फिर देख लिया।

घने अँधेरे के साथ ही आकाश मे अनन्त तारे जगमगा उठे है। और किशोर पीठ का सहारा ले कर बैठा हुआ उन्ही को देखता हुआ कुछ खोज रहा है। मन मे विकल होकर अपने-आप से पूछ लेता है—"इसके बाद और इसके बाद !' इसके बाद उसके मन मे पिछले महीनो का क्रम निकलता जाता है।

मास मे दो बार विदा का पत्र उसके पास आता रहा है। पत्र मे बच्चो जैसी अनेक बाते रहती है—'दद्दा, तुम कैसे रहते हो ? अकेले हॉस्टल मे कैमे अच्छा लगता है ? खाना क्या खाते हो, अच्छा क्या लगता होगा, पत्र लिखने से पढाई मे तो हर्ज तो नही होता।' और अन्त मे लिखा होता है—'गर्मी की छुट्टियो मे जरूर आना, मै प्रतीक्षा करूँगी।' फिर उसे एक पत्र से मालूम होता है कि उसने मियादी बुखार की हालत मे कठिनाई से लिख पाया है, पर उसमे भी छुट्टियो मे आने की बात भुलायी नही गई थी।

किशोर उद्विग्न होता जाता है, उसके मन मे शून्य मे समा जाने जैसी वेदना है।

फिर एकाएक उसे बडे मामा का पत्र मिलता है—वह उलट-पलट कर देख लेता है, उसमे विदा की लिपि नही है। पत्र सक्षिप्त ही है—'भइया, भगवान् हमसे रुष्ट है—विदा हमसे रूठ कर चली गई।' बिल्कुल सक्षिप्त-सी घटना ! विदा नही रही, वह रूठ गई, किससे ? वह चली गई। क्यो ? कहाँ ? वह तो अपना वादा पूरा कर रहा है, पर उसने कहाँ की प्रतीक्षा—'मैं प्रतीक्षा करूँगी।' कहाँ कौन प्रतीक्षा कर रहा होगा ? उसके सामने शिशु-जैसी निर्मल, भोली आँखे

ग्रा जाती है ग्रौर फिर पतले-पतले ग्रोठो से कोई कह रहा है—'मैं प्रतीक्षा करूँगी दद्दा तुम्हारी !'

ट्रेन शाहजहाँपुर स्टेशन पर रुक गई। किशोर के मुख से निकल गया—'कुली' एक तहमदधारी कुली अन्दर ग्रा गया ग्रौर सामान की ग्रोर देखने लगा। एकाएक किशोर ने कहा—'तुम नीचे जाग्रो !' कुली कुछ ग्राश्चर्य से नीचे उतर कर खिडकी पर ग्रा गया। किशोर ने कह दिया—'मुझे नही उतरना है यहाँ।' कुली ने कर्कश स्वर मे कहा—'नही जाना था·····!' किशोर ने एक अठन्नी उसकी ग्रोर फेककर कहा—'हाँ, मुझे नही उतरना है यहाँ।'

घाटी का दैत्य

घाटी की इस सडक से कुछ हट कर दो-चार लडको की छोटी-सी भीड इस बात की प्रतीक्षा मे रुक जाती है कि ट्रक निकले तो वे ताली पीट कर शोर मचाते हुए उनका स्वागत करे। अनेक बार ऐसा होता है कि इन लडको को ट्रको से कोई उत्तर नही मिलता, उनकी अवहेलना कर वे निकल जाती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि ट्रक-ड्राइवर उनकी ओर 'साले हरामजादे' कह कर स्पीडोमीटर को कुछ अधिक दबा देता है।

कई ट्रके निकल गई है, लडको का उत्साह उनकी प्रतीक्षा के साथ शिथिल पड रहा है। लडके गिनती नही जानते। वे नही जानते कि कितनी ट्रके नित्य इसी सडक पर धूल उडाती हुई सुबह पूर्व दक्षिण की चढाई की ओर चली जाती है। कुछ दूर समतल दौडती जाती है, फिर चढती हुई पहाडी पर दौडने लगती है और बाद मे एक ऊँचे शीर्ष-विन्दु से वे एकाएक गायब हो जाती है। उनके लिए ट्रक का पास से गुज़रना एक उत्तेजक अनुभव है, पर उस विन्दु पर उनका अदृश्य होना कम कौतुक का विषय नही। इस प्रकार यह क्रम एक घटा के लगभग चलता रहता है और ये लडके इस कौतुक के आनन्द मे डूबे रहते है।

साँझ होते ही ये सडक के किनारे इसी निचले भाग मे फिर एकत्र हो जाते है। इस बार इस कौतुक का क्रम उलट-पलट जाता है। ट्रक एका-एक उतरने वाली सडक के शीर्ष विन्दु पर प्रकट हो जाती है, नीचे की ओर तीव्र गति से लुढकती हुई समतल पर दौडने लगती है। उस क्षण उनका कौतुक उत्तेजना के उल्लास मे बदल जाता है। अब बिल्कुल पास से गुज़रने वाली ट्रको की गति का अनुसरण इन लडको की

दृष्टियाँ उत्तर-पश्चिम मे बहुत दूर नही कर पाती। कुछ क्षणो मे, शायद दो तीन फर्लांग बाद ही, ट्रके सडक के मोड के साथ पहाडी श्रेणियो की ओट मे छिप जाती है। और उनकी दृष्टियाँ फिर लौटती है—शिथिल भाव से। पर उसी समय ट्रक पुनः पहाडी शीर्ष पर आविर्भूत हो जाती है और शिथिल होकर ढीला होता हुआ उत्साह फिर कौतुक के हलके झटके से तन जाता है।

सच बात तो यह है कि ये खुद नही जानते, कहना चाहिए कि इनके मन मे बहुत स्पष्ट नही है कि ये ट्रके क्या है ? क्यो इधर से उधर, उधर से इधर आती-जाती है ? इनसे क्या मतलब है ? बस ये जानते है कि लगभग निश्चित समय पर सुबह-शाम ये 'कुछ' दौडती हुई निकल जाती है। कौतूहल उनका जागता है, वे उनको लेकर उत्साहित होते हैं और कभी-कभी किसी क्षण उनका वह उल्लास आवेश जैसा भी हो जाता है, इसमे कोई सदेह नही। पर फिर भी यह नही कहा जा सकता कि ये दिन मे उनकी प्रतीक्षा करते है, रात मे सोते समय उनकी याद करते है। यह कहना भी कठिन है कि दिन मे जब ये अपने ढोरो को पहाडी घाटियो मे चराते है, या गीतो की उन छोटी-छोटी कडियो को, जिनको उनके बडे अपने फेफडो को पूरा फैलाकर गाते हैं, वे अपने गलो के पतले सुरो मे उतारने की कोशिश करते है, या जब ये पहाडी आम-जामुन की ऊँची डालियो मे चिडियो की तरह फुदकते हुए लुका-छिपी खेलते है, उस समय पहाडी की इस तिरछी घाटी मे उतरती और फिर मुड कर बाये छिप जाने वाली काली सडक पर जादू के इस खेल को सदा याद ही रखते है। जब अपनी माँ के पास, या बाप के पास, या अपनी आजी के पास चिपट कर सोते समय उनकी आँखो मे नीद अपने भारी पखो पर उतरती है, उस समय इनके मन इन ट्रको की सुधि से घिरते हो, ऐसी बात नही। लेकिन यह कहना भी बहुत ठीक नही कि इनकी भारी होती पलको मे, उतरती हुई नीद की घाटी मे इस ट्रक की दौडती हुई रेखा उभरती ही नही, अथवा नीद के प्रवाह मे, स्वप्न की नौकाओ

मे दौडते हुए उन्हे ट्रको की गति का कुछ अनुभव होता ही नही । इनके नन्हे दिमागो मे इस खेल का आकर्षण अनजाने मे बिखरा रहता है ।

लडके नही जानते कि वे कितने है । सख्या वे कोडियो मे जानते भी हो, पर इस जनगणना की उन्हे कभी आवश्यकता ही नही पडी । ये और इनका हिमाब सीधा है । लालू जानता है कि यह जोखू है, यह परेवा है, यह ढोली है और यह पतोखी है । जोखू जानता है—यह लालू है, यह परेवा है, यह ढोली है और यह पतोखी है । इसी प्रकार यह कहना उनके लिए कठिन है कि उनमे आयु का क्रम क्या है । उनके लिए यह जानना ही सहज है कि पतोखी ढोली का छोटा भाई है । जामुन के पेड से आम का पेड छोटा है, साखू के पेड से दोनो छोटे लगते है । इसी हिसाब से समझ लेना सरल है कि जोखू से लालू कुछ छोटा है और परेवा तो इन दोनो से लाँबा है । वैसे अन्य सभी बातो मे ये सभी समान है, क्योकि अधिकारो मे सभी समान है । ढोरो को चराना हो, घेरना हो, पानी पिलाना हो, खदेडना हो, सडक पार कराना हो, या घाटी मे मोडना हो, उनमे समानता है । खेल मे भी ये सब समान है । हाँ, ढोली का छोटा भाई पतोखी है जिसे सब छोटा मान कर चलते है, सभी उसका खयाल रखते है । ढोरो के बारे मे उसका भाई ढोली है ही, उसे तो केवल सहायता करनी होती है । और खेल मे सब जान-बूझ कर उसको बचाने की कोशिश करते है । वैसे वह अपने-आप किसी बात मे पीछे रहने को अच्छा नही मानता । कई बार बुरा मानता है और कई बार इसी कारण उसे खेल नीरस भी लगने लगता है । जब 'लुका-छिपी' का चोर डालियो पर दूसरो की ओर सर-सर बढ़ता हुआ उसको बगल मे छोड आगे निकल जाता है, तब उसे लगता है कि वह ऊपर चढे क्यो ? वह सोचता कि ये लोग वास्तव में उसे खेल मे भाग नही देते ।

दूसरे सब उसके इस भाव को पकड भी लेते है, वे उसका मन रखने के लिए उसको छू लेते है, चोर बनने का मौका देते है और फिर

शाखाओ मे काफी भाग-दौड का अभिनय करके पुनः छू जाने का मौका देते है। अनेक बार पतोखी को यह भ्रम हो भी जाता है कि वह खेल मे सचमुच भाग ले रहा है। पर उसी के बाद जो खेल शुरू होता है उसमे अधिक स्फूर्ति, अधिक तेजी रहती है। उसके बीच वह फिर अनुभव करने लगता है कि वह खेल मे केवल दिखाऊ गोइयाँ है, वह केवल खानापूरी है, सचमुच मे उसे खिलाडी माना नही जाता। और जो खेल सचमुच का न हो, वह खेल ही क्या! उसमे किसी को क्या आनन्द मिलेगा! छोटे पतोखी के मन के इस भाव मे कई उतार-चढाव आते है। कभी वह उदास हो जाता है, कभी खीझ जाता है, कभी वह चिढता है और कभी-कभी उसमे विद्रोह का आक्रोश भी उत्पन्न होता है।

पर एक बात है। पतोखी छोटा हो सकता है, परिस्थिति को समझ भी न सके, पर अनुभव जरूर कर लेता है। वह जानता है, उसके सभी साथी उसे प्यार करते है और उसका भाई उसे कितना चाहता है! उसे क्रोध है अपने पर, और यह क्रोध फैल कर दूसरो को भी छूता है। क्योकि उसको असहाय सिद्ध करने मे ढोली का ही हाथ रहता है, इस कारण जब उसका आक्रोश अपनी हीनता से फैल कर दूसरो को छूता है, तब ढोली सबसे अधिक आक्रान्त होता है। वह बेचारा अपने इस छोटे भाई के मन की बात पूरी तरह जानता हो, ऐसी बात नही। जानता पतोखी ही कहाँ है, वह तो अनुभव करता है। और ढोली तो यही समझता है कि उसका यह भाई कभी कुछ उदास हो जाता है, कभी कुछ खीझ उठता है और कभी अन्दर ही अन्दर भुकरा हुआ जान पडता है। वह भरसक उसको प्रसन्न करने की कोशिश भी करता है, साथी भी कुछ-कुछ समझते है और बिना कुछ कहे-सुने यह सब चलता है।

यह सब ऐसे ही चल रहा है, और चलता भी रहता। पतोखी इसी बीच धीरे-धीरे बडा होता जाता है। इसी प्रकार बढता गया, तो प्रतिद्वद्विता की भावना से वह इनसे अधिक समर्थ हो जायेगा। पर अपने

इस एकरस जीवन के बीच उनका ध्यान इन ट्रको की सुबह-शाम दौडने वाली पक्ति पर गया। इस घाटी के पास बसे हुए गाँव के इन लडको के मन को इन ट्रको से काफी आकर्षण मिला। घटे आध-घटे के इस कौतुक का सबध उनके जीवन-क्रम मे इसलिए भी जुड गया कि उनके दैनिक जीवन की सीमा-रेखा इनसे बनती है। सुबह होते ही कलेवा कर के और अपने अँगोछो मे दोपहर की रोटी और मिर्चें की चटनी गँठिया कर ये सब अपने-अपने ढोरो के पीछे छोटे डडे हिलाते गाँव से मील-डेढ मील निकल आते है। ये सब उस रास्ते मे सडक तक आ जाते है, जो पग-पग चलने पर भी पगडडी के स्थान पर चौडा रास्ता बन गया है, लेकिन फिर भी घने साखू के पेडो और फट्टश की झाडियो के बीच दूर से एक-रेखा जैसा जान पडता है। जहाँ इस रास्ते से सडक को पार कर ये घाटी मे उतरने के लिए तैयारी करते है, उसी समय पहली ट्रक श्रेणी के मोड पर दिखायी पडती है। और शाम को जब दिन भर ढोरो को चरा कर, घुमा कर वे घाटी से चढ कर इस सडक के इसी स्थल पर अपने गाँव के रास्ते की ओर मुडने वाले होते है, लग-भग उसी समय ट्रक पहाडी शीर्ष-विन्दु पर प्रकट हो जाती है। फिर आते-जाते ये सब इन ट्रको की पक्ति की अन्तिम ट्रक तक को निकाल कर ही आगे बढते है।

ढोरो की चिता करने की विशेष जरूरत नही पडती। वे सब अभ्यस्त है—रास्ते का ढर्रा उनको जानने की जरूरत नही। उनको पता है कि कहाँ जाना है, कहाँ लौटना है। घर का रास्ता पहचानते है, और घाटी के चरागाह भी। आगे-पीछे जा कर वे सब अपने ढोरो को सँभाल लेते है। बात तो यह है कि ढोर इनसे अधिक समझदार हैं—वे इनकी बालबुद्धि से अधिक सतर्क है। देर होते देख, अथवा समय अधिक होते देख कर इन्तजार भी कर लेते है। शायद उन्हे यह मालूम है कि घर सीधे पहुँच जाने पर उनके सामने प्रश्न उठ सकता है कि वे इतने बडे हो कर भी इन नासमझ लडको को रास्ते मे ही छोड आये।

और तब वे क्या जवाब देगे ? ठीक है, घर कुछ देर मे ही पहुँच जायेगे, पर इन अल्हड लडको को साथ ही ले चलना ठीक है, इनका क्या ठीक; और वे जवाब क्या देगे ? इन सज्ञान पशुओ के ही भरोसे तो मालिको ने इन नासमझ लडको को इतने घने और निर्जन जगल मे भेज दिया है। और ये लडके है कि समझते है कि ढोर उनके भरोसे चरने आते हैं।

इस तमाशे के समाप्त होते ही वे सब भाग खडे होते है। उनको जल्दी ही पहुँच कर अपने-अपने ढोरो को सँभालना है। कोई कही रुक तो नही गया है, कही कोई गोल से बिछुड तो नही गया!

इस हडबडी मे पतोखी कुछ पीछे छूट जाता है। इसलिए नही कि वे उससे कुछ बडे है, इस कारण आगे निकल आते है। अथवा यदि वह चाहे तो भाग कर उनके साथ नही हो सकता। पर जिस प्रकार वे जब उसको प्रोत्साहित करने का अभिनय करते है तब उसे अच्छा नही लगता, उसी तरह जब ये लोग उसका साथ छोड देते है, तब फिर उसी की प्रतिक्रियास्वरूप वह धीरे-धीरे लौटने का अभिनय करता है। अनेक बार ऐसा होता है। इस बात को अधिक महत्त्व दिया भी नही जाता। पहली बात तो यही है कि यद्यपि वह धीमे चलता है, जान-बूझ कर पिछड जाता है, पर वस्तुत वह अधिक पीछे नही छूट जाता। साँझ सघन होती हुई घाटी की गहरी उदासी से भरने लगती है, इस उदासी से पेड-पौधे भी मौन हो जाते है। इस उदासी के भारी वातावरण के साथ टूको की दौडती छायाएँ ऐसी जान पडती कि रात की कहानियो के अज्ञात काले देव दौड रहे हो। ऐसे वातावरण मे पतोखी किसी हालत मे उन सबसे अधिक दूर नही रह सकता है। गाँव के अनबुझ लडके दिन के प्रकाश मे तो जगलो मे घूमने वाले रीछ से नही डरते, पर अँधेरे की काली-काली छायाओ की कल्पना-मात्र से भयभीत हो उठते है। इसके अतिरिक्त पीछे रहने मे उसका एक और भाव है। कभी एक-दो जानवर किनारे रुक जाते है, कभी चौक कर पिछड जाते है, कभी कोई पेटू जानवर किसी स्थान पर मुँह मारने के लिए भटक जाता है। इन सब इधर-

उधर भटके हुए जानवरो को पतोखी हाँक लाता है, और इस प्रकार जब उसके साथी गाँव के सिवान के घने फैले बरगद के पेड के नीचे ढोरो को अन्तिम बार सँभालते है, तब उनको ठीक सँभाल करने मे दिक्कत नही होती। उस समय यह बतला कर कि धौरा को पतोखी ने कहाँ देखा था, तितरी को उसने कहाँ पकडा और पड्डे को उसने कैसे घेरा—वह सबपर अपनी योग्यता और सतर्कता की धाक ही नही जमाता, वरन् उनके आदर का पात्र भी बन जाता है।

वैसे ट्रको की यह नित्य की लीला इन सभी चरवाहे लडको को आकर्षित करती है, पर पतोखी का मन उनसे सबसे अधिक उलझता है, कुछ इसलिए भी कि वह इन सबसे छोटा है अर्थात् बहुत छोटा है। वैसे कौतुक इस प्रसग को लेकर गाँव के लोगो को भी कम नही है। घाटी के इस गाँव के लोग इस जमाने मे ट्रक-मिलिटरी—ट्रको से परिचित न हो, ऐसी बात नही है। गाँव शहर से बहुत दूर है, पर क्या हुआ, आने-जाने का रास्ता उन्हे ज्ञात है। कई लोग आते-जाते रहते है। शहर मे जाकर भी इन सब बातो को न जानने का कोई अर्थ नही। फिर भी घाटी मे इन ट्रको के आविर्भाव से उनके मन मे कौतूहल और जिज्ञासा के साथ भय और आतक की भावना छा गई। क्यो ?

शायद किसी दिन लकडी काटने के लिए गयी हुई स्त्रियो ने इन ट्रको को देखा था और उन्होने इसको गाँव की चर्चा का विषय बनाया था। पर उनके मन पर छाये हुए भय तथा आतक के कारण बात बहुत धीरे-धीरे ही फैल सकी। बाद मे अन्य लोगो ने अपनी आँखो देखा और तब बात चल निकली। लडको को लगा कि उनके बडे किसी चर्चा को स्पष्ट रूप से उनसे नही करना चाहते। फिर उनको इस बात का आभास होने मे अधिक समय लगा कि चर्चा इसी घटना को लेकर होती है और इसके विषय मे वे उनसे अधिक जानते है। बात उन्हे मजे की लगी कि उनसे इन्ही बातो की चर्चा को बचाया जाता है, जिनसे वे स्वय इतने

परिचित है। आते-जाते रोज ही मिलती है। गाँव के बडे-बूढे यह जानते न हो, ऐसी भी बात नही। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वे अपनी बुद्धि को बच्चो की बुद्धि से अधिक मानते है। लडको को यह बहुत अच्छा नही लगता, फिर भी इस विषय पर दोनो पक्षो मे किसी प्रकार की चर्चा होने से रही।

इस प्रसग को ले कर चर्चाएँ लम्बी है, और उनको सुन कर लडको का ऊहापोह भी बहुत है। पर सबके सामूहिक निष्कर्षों के अनुसार मतलब यो है कि लडाई अब छिडी, तब छिडी, क्षण का ठीक नही। गाँव सीमा के पास है। अब तब की कोई मिसाल नही—पहले लडाई धर्म की होती थी, देवता दैत्यो से लडते थे। अधर्म तो हारता ही, आदमी का साथ भगवान् देते थे। अब तो लडाई मे अधर्म ही अधर्म है। दोनो ओर दैत्यो की लडाई है, आदमी का सहायक कोई नही। इन दैत्यो की लडाई मे आदमी पिसता है। यही वजह है कि दोनो ओर से राक्षसी माया की चाल है। शहर मे सुना है कि लडाई बम से होगी, टैको से होगी, चील्हगाडी से होती है। चील्हगाडी के विषय मे लडको की कल्पना प्रखर है। अनेक बार उन्होने घाटी पर मँडराती–घर्र-घर्र करती चील्हगाडियो को देखा है। ये समझते है कि बहुत भारी चील्हो को जोत कर ये रथ बनाये गए है, जिनके पहिये आकाश की अदृश्य सडक पर घरघराते चलते है। कौन इसपर बैठना होगा! बडे कहते है चील्हगाडी पर आदमी बैठते है। लडके मानने को तैयार नही। उन्ही का कहना है कि लडाई दैत्यो की है तो दैत्य ही चील्हगाडी पर बैठते होगे।

और ट्रको के विषय मे इनके मन मे स्थिति कुछ भी स्पष्ट नही है। लडको ने खुद देखा है कि उनपर बैठे हुए उन्ही जैसे लोग है—सामने बैठा वैसा ही है और उसपर बैठे या खडे लोग वैसे ही लगते है। पहली ट्रक पर जरूर भिन्न प्रकार का सफेद व्यक्ति रहता है, इसी प्रकार अन्तिम पर भी वही व्यक्ति रहता है, पर सफेद होने से वह

आदमी न हो, ऐसी बात नही। लेकिन ये जो गाडियाँ अपने-आप इतनी तेजी से पहाडी के नीचे ऊपर दौड-भाग सकती है, क्या ये दैत्य नही ? दैत्यो की ही माया होगी—हलका-सा यह आभास रहने पर भी लडके इन पर चढे हुए परिचित लोगो से आश्वस्त रहते है। बहुत-कुछ इसी कारण ट्रको के सामने रहने पर प्राय उनको भय नही लगता। बाद मे बडो के मन का आतक तथा भय की भावना छाया-लोक के भय के समान उनके मन पर भी कभी-कभी फैल जाती है। यह बात दूसरी है कि इन लडको के मन मे लडाई का कुछ स्पष्ट रूप नही है और न यह ही अनुमान करने मे समर्थ है कि फौजी डेरे के पास होने से किसी गाँव को क्यो भय लगना चाहिए ? वे डरते है केवल इस छायाभास से, कि यह सब कुछ छायाभासित अज्ञात लोक के दैत्यो की लीला से सबद्ध है।

वैसे भी उनके मन ही मन मे भय की भावना—कभी सध्या की घनी होती छाया मे, घाटी के सुनसान सन्नाटे मे, या झीगुरो की तेज होती तीखी झकार मे फैल जाती है। यह सारा जीवन उनको पहले से परिचित है। न जाने कब से ये इस घाटी मे, इन्ही जगलो मे, इन्ही ढालो पर अपने ढोरो को ले जाते है—पर ऐसी मन को घेर कर दबाव डालने वाली भावना उठी नही। मन न आतकित हुआ हो, यह कहना ठीक नही है। पर वह सुने हुए दैत्यो, जिन्नो, ढीह देवताओ, ब्रह्मदेवो के रात के किस्सो का रोमाच कभी-कभी उनको इन स्थानो पर अभिभूत करता है। अब तो दैत्य की राक्षसी लीला की शृ खला नित्य इन ट्रको के रूप मे इनके सामने आविर्भूत होती है।

पतोखी, छोटे पतोखी को इन ट्रको की शृ खला-पक्ति मे एक और मोह है—मोह जो कभी भय की आतक-भावना को गहरा, और गहरा, करते रहने के लिए होता है। मोह पतोखी मे उत्पन्न हुआ था। वास्तव मे ट्रको का अलग अस्तित्व उसके लिए नही है—वह तो उनको दौडती

हुई, अदृश्य होती हुई, फिर एक छोर पर प्रकट होती शृ खला के रूप मे जानता है, पहचानता है। यह मोह है कि अजगर की लपेट की तरह उसको कसता जा रहा है। बियाबान जगल के बीच मे जैसे कोई अकेला यात्री अजगर की लपेट मे बरबस फँसता जा रहा हो और वह असहाय चारो ओर देख रहा हो। धीरे-धीरे वह निष्क्रिय पदार्थ उसके अगो को चारो ओर से बाँधता जा रहा हो। चमकती हुई उसकी चिकनी मासल देह धीरे-धीरे अपने घेरे को कम करती जा रही है। अभी तक लपेट पूरी नही है और न उसके शरीर की पेशियो मे खिचाव या तनाव ही आया है। कुण्डली बस घिरती जा रही है। और उस यात्री की ठीक आँखो के सामने उसी अजगर की चमकती हुई आँखे है जिनको यात्री ने दूर से देखा था, जिनसे खिच कर वह आगे बढता आया है, आगे चलता आया है। मन मे उसे कोई निरन्तर सतर्क कर रहा था कि यह रास्ता ठीक नही—सावधान ! पर अब भी वे ही आखे उसके तन-मन को जकडे है, उसकी इच्छा बन्धन के प्रति शिथिल होती जा रही है और अभागा यात्री ! वह निरुपाय होकर बधन मे फँसता जा रहा है। उसके मन का मोह ही है जो इस प्रकार उसे स्वय ही इस बधन को स्वीकार करने के लिए विवश कर रहा है। इसी तरह का मोह, इसी तरह का कोई आकर्षण पतोखी के मन को खीचता है। अपने सब साथियो से उसके मन की यह स्थिति भिन्न है।

इसका कारण है। अनेक बार जब अन्य सब बातचीत मे व्यस्त रहते है, उस समय वह अपने को अलग पाता है, अकेला पाता है। ऐसा नही कि साथी बातचीत करना नही चाहते, उसको भाग लेने का अधिकार नही देते। पर ऐसा उनकी ओर से स्नेह—उदारतावश ही होता है जिससे उसका मन विद्रोह करता है। मान लिया कि जानवरो को घेरना है और सबने आग्रह भी किया कि पतोखी की बारी है और पतोखी ने इस भार को गौरवपूर्वक लिया भी, परन्तु इसी बीच उसका भाई ढोली अपने साथी लालू के साथ छिप कर जानवरों को नजदीक घेर लाता

है, ताकि पतोखी को कष्ट न हो। पतोखी समझता है और उसका मन विद्रोह की भावना से व्याकुल हो जाता है।

ऐसे क्षणो मे वह गुमसुम अनमना होकर एक ओर अलग हो जाता है। कभी वह चुपचाप मौन भाव से बैठा रहता है। उसके मन मे नाना प्रकार की कल्पनाएँ उठती है और घूमती है। इन्ही कल्पनाओ मे वह इन ट्रको को चुपचाप दौडते देखता है। पहाडी के ऊँचे शीर्ष पर कई ट्रके अकस्मात् आविर्भूत होती है और उसके पास से सर से निकल कर दूसरी ओर गायब हो जाती है।' फिर इसी प्रकार और फिर।...लेकिन फिर ट्रक मानो दैत्य के रूप में दौडने लगती है' भयानक दीर्घकाय दैत्य। उसका मुख जैसे गोल निशान वाली ट्रक के सफेद आदमी के मुख जैसा हो...जो कभी-कभी उनको शोर करते देख रफ्तार धीमी कर क्रुद्ध दृष्टि से घूरता हुआ 'डेम ब्लडी' कह कर निकल जाता है और वे विशेष कुछ नही समझते। परन्तु इस एकान्त मे वह दैत्य के मुख पर झलकते हुए आक्रोश से अन्दर ही अन्दर सहम उठता है।

फिर वह दैत्य के सामने से भागता क्यो नही? वह भाग सकता है, वह अपनी टाँगो पर खरहे जैसा भागता रहता है। पर उसे लग रहा है—दैत्य पहाडी ढाल पर दौडता चला आ रहा है, अपना मुँह उसकी ओर फैलाये हुए है...और वह निस्सहाय खडा है वह खडे रहने के लिए जैसे विवश है। दैत्य पास आता जा रहा है, दैत्य का मुख फैलता जा रहा है और मुख का लक्ष्य वह स्वय है। दैत्य बहुत निकट आ गया है' और वह सीधे बैठा है, दम साधे बैठा है। कि अब दैत्य के मुँह मे गया, अब गया। दैत्य बिल्कुल पास है और एक क्षण की तीखी वेदना के बाद ही वह अनुभव करता है कि दैत्य उसके पास से निकल गया है। एक क्षण के लिए उसे तीखी अनुभूति से बचने का ठढा-सा अनुभव होता है कि उसी चोटी पर दैत्य पुनः प्रकट हो जाता। इस बार और तेजी से वह दौडता है, और मुँह विस्तार मे खुलता है, उसके अन्दर जाने की सभावना और भी व्याकुल करती है...पर पीडा

जब अन्तिम क्षण पर पहुँच जाती है, उसी क्षण दैत्य आगे निकल जाता है—वह बाल-बाल बच जाता है। पतोखी का डूबता मन फिर थिर हो जाता है, आतंकित और विह्वल प्राण एक गहरी साँस लेता है कि फिर। ··

पतोखी अपने अकेलेपन मे दैत्य के इस रोमाचक खेल से क्यो उलझता है ? पर ऐसा नही, यह खेल अपने-आप उसे घेर लेता है। उसमे उसका मन विचित्र आकर्षण के साथ मोह का अनुभव करता है। वह इस कल्पना मे डूबा रहता, और इस प्रकार बहुत समय निकल जाता। ऐसा नही कि उसने अपने साथियो से इस खेल का उल्लेख किया न हो। उसने अपने भाई से पूछा था कि 'भइया, क्या दैत्य रूप धरते है ?' भइया ने गभीर होकर उत्तर दिया था—'रूप न धरे तो दैत्य ही काहे के !' फिर इससे अधिक क्या पूछता !

अनेक बार की तरह पतोखी इस बार भी कुछ शिथिल भाव से रुक गया। सब समझ चुके थे कि ट्रके पास हो चुकी है, अन्तिम ट्रक पर एक वृत्त मे गोल घेरा देख चुके थे। फिर उनका रुकना व्यर्थ था। ट्रक के पास होते ही वे अन्तिम बार शोर मचा कर, शोर की अनुगूँज को पीछे छोड कर अपने आगे बढ गए ढोरो की ओर भागे। पतोखी ने शोर मे सबका साथ दिया था, पर वह उसकी अनुगूँज सुनता हुआ रुक गया। वह इस अनुगूँज को, अपनी ही प्रतिध्वनि के मिटते हुए स्वरो को, जैसे अलग वस्तु के समान अनुभव करता है। उसके मन पर उदासी और शिथिलता का बोझ पड रहा है और उसकी दृष्टि उसी शीर्ष पर अब भी फैली हुई है। वह इस सारे उदासी और भय के वातावरण को झटके के साथ अलग कर भागता हुआ अपने साथियो मे मिल जाना चाहता है। पर उस क्षण भय के मोह ने उसे रोक लिया और उसने आश्चर्य से देखा, शीर्ष-विन्दु पर ट्रक एकाएक प्रकट हो गई है। मन मे झटका-सा लगा, क्षण-भर वह स्तब्ध रहा····· लेकिन ट्रक ढाल पर

दौड़ रही है, ट्रक भागी आ रही है···पर यह ट्रक नही, ट्रक कहाँ है ? यह तो दैत्य-सा, दैत्य है। वही, बिल्कुल वैसा ही। उसने गौर से देखा, ध्यान से देखा—यह वही दैत्य है, वैसा ही मुँह है···और वह मुँह फैलता जा रहा है—भागता आ रहा है। उसका मुँह ज्यो-ज्यो खुलता जा रहा है—वह उसी की ओर आता जान पड़ता है, दौड़ता आ रहा है। लेकिन वह क्या करे—साथी सब आगे बढ़ते जा रहे है। वह पुकार सकता है, अभी बहुत दूर नही है। वह पुकारना चाहता भी है, पर आवाज नही निकलती। आवाज को क्या हुआ ! दैत्य का मुँह उसी की ओर बढ़ता आ रहा है। वह यह भी समझ रहा है कि यह दोपहर के समय पेड़ की डाल पर बैठ कर कल्पना करने जैसी बात नही है। यह तो बिल्कुल सच है, जैसे वह सच है, घाटी सच है। अब दैत्य नही दिखायी देता, केवल मुँह—फैला हुआ विकराल मुँह उसके पास—और पास आता जा रहा है। अन्दर से पसीना छूट कर सूख गया कँपकँपी आ कर रुक गई—वह स्तब्ध-विजड़ित खड़ा है। क्यो खड़ा है वह ? क्यो उस मुख मे समाने के लिए खड़ा है ? उसके मन मे कही कोई आकर्षण का सम्मोह भी है। मुँह उसकी ओर बढ़ता आ रहा है और अब उसे लगा कि वह स्वय उसकी ओर खिचता जा रहा है।

एक झटके के साथ उसने अनुभव किया जैसे बिजली की करेंट से झनझना उठा हो और न जाने किस शक्ति से वह सड़क पर बेतहाशा भाग रहा है और दैत्य मुँह फैलाये तेजी मे पीछा कर रहा है—भागते हुए केवल यही अनुभव उसे होता है। तेज और तेज भाग रहा है· उसे कुछ होश नही, कुछ ज्ञान नही। भागते-भागते ही बेहोशी की हालत मे जान पड़ा—दैत्य ने अपने जबड़ो के बीच उसे दाब लिया और पीस दिया हो जैसे· बस।

कुछ ही देर बाद ढोली ने महसूस किया कि पतोखी अभी तक नही पहुँचा। वह पीछे भी बहुत दूर तक नही है। वह समझता है—यह

स्वाभाविक नही है। ऐसा कभी नही होता। चुपचाप लौट पडता है। रास्ते के ढालो पर कुछ नही दिखायी पडा। रास्ते मे भी नही मिला। आखिर पतोखी कहाँ है! ढोली सडक पर आ गया। फिर अनजाने, परेशान सडक पर घाटी के छोर की ओर चल पडा। वह चलता गया—एक फर्लांग तक कुछ नही दिखा—वह बढता गया—दूसरे फर्लांग पर पहुँचते-पहुँचते उसे लगा, कुछ दूर सडक पर कोई पडा है—शकित मन बढा। धीरे-धीरे पास पहुँचा अरे, यह क्या? पतोखी-पतोखी! पतोखी!!

ढोली अकेला उस घाटी मे खडा है। सध्या घिर रही है, घाटी मे अँधेरा जगल और पहाड की छायाओ से मिल कर सघन होता जा रहा है। सामने पतोखी पडा है–पतोखी उसका भाई! धुँधली होती हुई काली सडक पर टायरो की दो लकीरे है? लकीरे काली सडक मे खो गई है, और सडक गहराते अन्धकार मे।

विद्रोह की आवाज़

एक तीखी और निष्कम्प आवाज !

घण्टा, घडियाल, झाँझ, करताल की समवेत ध्वनियो पर बीच-बीच मे गुजरित शखध्वनि ! और यह दृढ आवाज़ इन सबके सघन नाद के वातावरण को भेदकर ऊपर उठने का प्रयत्न कर रही है।

जनसमूह भक्ति मे डूबा हुआ है। पूजा-आरती के आयोजन मे भक्त अपने को भूल चुके है, वे मौन, मुग्ध, आत्मविस्मृत है। गूजते हुए नाद मे, शख-ध्वनि मे, उनकी सारी आत्म-चेतना मिट गई है। यह आवाज... और क्या यह आवाज उनको सुनायी दे रही है ?

पूजा-आरती का आयोजन विराट् है। प्रतिष्ठित देवता का शृगार अद्भुत है, अलौकिक है। देवता के ऐश्वर्य, विलास, वैभव तथा उसकी सज्जा के नाना उपकरणो मे स्वर्गीय आभा झलक रही है। देवता के मौक्तिक हारो मे और उसके रत्नमणि-जटित मुकुट की प्रभा मे आश्चर्य-जनक आकर्षण है।... जनसमूह अभिभूत, विमुग्ध खडा एकटक अपने देवता का शृगार देख रहा है; सारे नादो को भेदती हुई शख-ध्वनि भक्तो के मन पर फैलती जा रही है। वे प्रणत है ! वे समर्पित है !!

उसी समय आवाज आती है—तेज, तीखी और दृढ—'हम प्रणत है, समर्पित है ! पर किसके प्रति ! हमारा यह समर्पण किसके प्रति है, हम किसके प्रति समर्पित है ?'

आवाज़ उठी पर घण्टा, घडियाल तथा शख के ध्वनि-प्रवाह मे जैसे डूब गई। किसके प्रति समर्पण ? देवता के मुख पर मुस्कान की रेखा है। क्यो ? देवता के प्रति समर्पण, समस्त भावो का, समस्त अपनेपन का समर्पण। निःशेष अनन्य भाव से अपने को प्रभु-चरणो मे देवता के प्रति समर्पित कर देना ही भक्ति है।

जन-समूह को शायद आवाज का भान नही है, भक्त नही सुन सके है इस आवाज को ·· वे विमुग्ध-अभिभूत है। उनको दूसरा कुछ जानना रहा नही, सुनने-समझने जैसा अन्य कुछ है ही नही। भक्त श्रद्धानत है, प्रणत है उनकी श्रद्धा का आधार है अपने को विस्मृत कर देना, उनकी भक्ति की भूमिका है अपने विवेक के अहकार को प्रभु को समर्पित कर देना।

पर आवाज डूबकर नही डूबती, मिटकर भी नही मिटती, यह अजब-सी चुनौती है, अजब तडप है इसमे।·· ······ ···और यह आवाज सारे नादो, समस्त ध्वनियो के घटाटोप मे उभरने की कोशिश कर रही है!

आवाज! यह आवाज सन्देह की है, अविश्वास की है, अनास्था की है। देवता के मन्दिर मे यह सन्देह की आवाज़ कहाँ से आ रही है! यह विरोधी स्वर कैसे उत्पन्न हुआ! देव-मन्दिर श्रद्धा, आस्था, विश्वास की भावभूमि है। यहाँ तो भक्ति तथा साधना की प्रेरणा मिलती है। युग-युग से महत् के सामने, देवता के सम्मुख अपने अहकार-विवेक को प्रणत करना श्रद्धा के रूप मे स्थापित रहा है, और सम्पूर्णत. प्रभु-चरणो मे अपने आपको समर्पित करना साधना की स्वीकृति रही है।

यह आवाज सन्देह का अकुर है · ·सन्देह का अकुर फूट रहा है, बीज जमीन की परतो को फोडता हुआ अकुरित हो रहा है। मानव-मन की गहराइयो मे छिपा हुआ सन्देह उसकी अनेक परतो को बेधता हुआ अकुरित हो रहा है। जमीन की मिट्टी बीज की प्राण-शक्ति को रोकने मे अशक्त, उसे मार्ग दे रही है।

पूजा चल रही है! आरती हो रही है। घण्टे-घडियाल और झाँझ-करताल उसी प्रकार उन्ही स्वरो मे बज रहे है, बीच-बीच मे शख की गहरी ध्वनि पहले जैसी ही मुखरित हो उठती है। ···· अपने शृंगार के वैभव मे, ऐश्वर्य मे देवता की मूर्ति भव्य है, आकर्षक है। जन-समूह, भक्त-मण्डली एकटक एकरस देख रही है, सुन रही है—पर यह देखना

न अपना है और न यह सुनना ही अपना है। जन-सर्वस्व समर्पित है, तब यह देखना-सुनना भी प्रभु-देवता के चरणो मे समर्पित हो चुका है।

और प्रभु मुस्करा रहे है! अहोभाग्य, देवता मुस्करा रहे है। उनकी मुखश्री पर मृदु मुस्कान की लीला खेल रही है। भक्त कृतार्थ है, गद्गद है, भाव-विह्वल है। किसको मिलता है यह अवसर, कौन पाता है यह मौका .....बार-बार यह सौभाग्य पाना दुर्लभ है .. अपने सौभाग्य पर इतराता हुआ जन-समूह का मन कहाँ इतना सचेत है कि इस आवाज को सुने—इस विद्रोह की, सन्देह की, अनास्था की आवाज़ को!

लेकिन यह आवाज उभर ही रही है। घनघोर ध्वनियाँ इसको दबाने मे असमर्थ हैं और प्रभु की मुस्कान भी इसे रोकने मे जैसे विवश हो रही है। यह आवाज, सन्देह और अविश्वास की आवाज, समस्त नाद मे पुजारियो के हाथ मे बजती हुई घण्टियो की बहुत धीमी पर निष्कम्प आवाज के समान स्पष्ट सुनायी दे रही है। किसकी आवाज़ है! इस समूह मे कौन है देश-द्रोही, कौन है नास्तिक, अविश्वासी और श्रद्धाहीन!

पुजारियो के सतर्क कान इस भेदती हुई आवाज को पकड पाते है... उनके मुख का मन्त्रोच्चार चल रहा है, उनके हाथो मे आरती घूम रही है, उनके शख ध्वनित हो रहे है और घण्टियाँ बज रही है.......उनके मुखपर पूर्ववत् मुद्राओ का अभिनय चल रहा है।....पर उनके मन मे ये आवाज़े प्रवेश कर रही है, उनका ध्यान बरबस इनकी ओर आकर्षित हो रहा है।

और आवाज तीखे पर दृढ स्वर मे कह रही है—"ये देवता झूठे है, पूजा-आरती का आयोजन प्रवचना है, भ्रम है, छलना है!"

पुजारियो के कानो को यह स्वर बिल्कुल अपरिचित लगा। उनको आश्चर्य हुआ—'ये कौन है! कहाँ से आये है! कौन है ये आस्थाहीन! प्रभु के राज्य मे कौन है ये जो उनकी कृपा से वंचित है! निश्चय ही ये

कुण्ठाग्रस्त, हीन भाव से पीडित विकृत मनोभावो वाले लोग है। इन्होने देवता के प्रति, प्रभु के प्रति विद्रोही स्वर ऊँचा किया है। इन्होने स्वर्ग के राज्य को चुनौती दी है। कौन है ये जो नरक, बीभत्स, कुत्सित की स्थापना के स्वर मे बोल रहे है?'

पुजारियो का मन्त्रोच्चार अधिक मुखरित हो उठा, उनके हाथो के घडियाल अधिक तेज बज उठे, शंख-ध्वनि अधिक ऊँची हो गई और आरती अधिक तेजी से ऊपर-नीचे आने-जाने लगी।···और पुजारियो के मन मे विश्वास जमने लगा कि यह आवाज इस सब मे दब जायेगी, डूब जायेगी ····।

लेकिन आवाज दबी नही, आवाज रुकी नही है, वह उसी प्रकार सारे नाद को भेदकर ऊपर उठ रही है—"ये देवता पत्थर के है, उनका समग्र व्यक्तित्व पाषाणी है!·· और देवता प्रभु की मुस्कान निर्जीव है!"

पुजारियो के सतर्क मन जनसमूह को बहा ले जाने वाले शोर के बीच मे इस तीखी आवाज को ग्रहण कर लेते है। देवता का यह अपमान असह्य है, प्रतिष्ठित देवता के प्रति यह विद्रोह उनकी अन्तरात्मा को दग्ध करने वाला है।···आवेश मे उनका मन्त्रोच्चार अधिक सस्वर हो जाता है, और आरती की समवेत ध्वनियाँ अधिक तेज़ और ऊँची हो गई।

इस चलते हुए आयोजन की व्यस्तता मे पुजारियो ने आवेश मे लल-कार कर पूछा, "कौन कहता है? किसका साहस है यह कहने का · कि देवता पत्थर के है, कौन कहता है कि देवता का व्यक्तित्व पाषाणी है? कौन है जिन्हे देवता का अन्तर्निहित सत्य दिखायी नही देता? कौन है वे जो प्रतिमा के प्रतीक सत्य को ग्रहण करने मे असमर्थ हैं? कौन नही जानता है कि देवता हमारा सत्य है, देवता हमारी मर्यादा हैं, प्रभु-देवता हमारे मूल्यो-प्रतिमानो के स्रोत है? किसको अविश्वास है कि ये प्रभु है—हमारे समस्त आचरण, समस्त कर्मो के साक्षी है? वे हमारे अपनत्व, हमारे अहकार-विवेक के समर्पण को ग्रहण करते है। कौन कहता है

कि हमारे प्रभु की मुस्कान निर्जीव है ? इसी मुस्कान से असख्य जन-समूह गभिभूत हो रहा है ।…सामने का सारा भक्तसमूह प्रभु की इसी मुस्कान मे डूबा हुआ है…बह रहा है ।"

पुजारियो को, देवता की सन्तानो की ललकार से भी आवाज रुकी नही वह उनकी आन्तरिक वाणी को बेधकर उभर रही है, पूजा-आरती के समस्त आयोजन के बीच से उठ रही है—"हम विद्रोही है, हम देवता-प्रभु के प्रति विद्रोही है ! हम सन्देह की आवाज है ! हमारे मन मे सन्देह ने जन्म लिया है । हमारे मन की श्रद्धा, विश्वास, आस्था की परतो को भेदकर यह सन्देह जन्म ले रहा है ! यह सन्देह हमारी कुण्ठाओ से जन्मा है, हमारी विकृतियो से जन्मा है, हमारे जी के नरक से, कुत्सित बीभत्स से पनपा है और इसी सन्देह ने हमको विद्रोही बनाया है ! देवता की सन्तानो, तुम समझते हो, हमारे सन्देह ने कुण्ठा को जन्म दिया है, अविश्वास को जन्म दिया है, यह तुम्हारा भ्रम है । हमारा सन्देह अविश्वास और कुण्ठाओ के बीच जन्मा है, इसीलिए वह नकारात्मक नही है, वह निष्क्रिय नही है ! यह सन्देह तो स्वीकृति है, सक्रिय है ! यह हमारी शक्ति है जिसने देवता-प्रभु के प्रति अविश्वास करना ही नही सिखाया है, वरन् उसकी समस्त मूल्य-मर्यादाओ के प्रति अनास्थावान् भी बना दिया है । यह सन्देह है कि जिससे व्यक्ति का अहकार जागता है और किसी की ज्वाला मे हमारी ही कुण्ठाएं फौलाद के समान प्रखर विवेक को जन्म देगी ।"

पुजारियो का सारा अभिनय यथावत् चल रहा है'……मन्त्रोच्चार, शखध्वनि, आरती……पर उनके मन मे स्वर गूँज उठा है …विवेक, फौलाद के समान प्रखर विवेक………'पर यह क्या जन्मा है भक्तो के हृदय मे……सन्देह से और उत्पन्न क्या हो सकता है ….अहकार, अहकार ही है यह विवेक ? प्रभु, क्षमा करना ! इन गुमराहो को अपना जन मानकर क्षमा करना ! तुम तो क्षमा ही करते हो प्रभु ! कैसे है ये जो प्रभु को ही नही, जिनके वे प्रतिनिधि है, प्रतीक है, उन मूल्यो

मर्यादाओ को भी चुनौती दे रहे है ! कितनी दृढ है इनकी अनास्था ! किन को मानकर चलते है ये ! क्या इन्होने अपनी विकृतियो को ही अपना प्रभु मान लिया है, अपनी कुण्ठाओ को ही अपना देवता स्वीकार कर लिया है !'

देव-पुत्रो, पुजारियो के मन के भाव ने विस्तार पाया ही था कि एकाएक शखध्वनि के मध्य उनको कुछ याद आ जाता है और वे अपने आन्तरिक भाव से मुस्करा उठते है। उनके सामने भाव-विह्वल, आत्म-विभोर भक्तो की अपार भीड लहरा जाती है।···· ···वे सोचते है, 'चिन्ता की बात नही है। यह सन्देह की आवाज बहुत कम लोगो की है, जन-समूह मे विकृत मस्तिष्क के लोग अब भी कम है। यह रोग अभी कम ही फैला है। · · भक्तो के हृदय देवता की गरिमा, महिमा, ऐश्वर्य की चकाचौंध से अब भी अभिभूत है; उनकी मुस्कान के जादू मे जन-समूह अब भी अपना सब कुछ समर्पित कर रहा है। उनका विश्वास, उनकी आस्था अडिग है। उनका अहकार आज भी प्रभु को अर्पित है, जिसे ये मूर्ख विद्रोही विवेक कहते है।···· इन पर आज भी प्रभु की कृपा है, भक्ति का वरदान उन्हे प्राप्त है। देवता जिसे अपनी ओर खीचते है, अपनी कृपा का पात्र बनाते है, अपने वरदान का आकर्षण जिस पर छोडते है, वही तो उनकी भक्ति का अधिकारी होता है। उनकी भक्ति उनकी कृपा पर निर्भर है।······और कौन है कि प्रभु की कृपा को अस्वीकार कर सके, देवता का आकर्षण रोक सके· · · ! यह शानदार पूजा, वैभवपूर्ण आयोजन, यह विलास-ऐश्वय· कौन है जो इसे चुनौती दे सके, कौन है जो उनके वरदान को ठुकरा दे···· !'

'और अभी क्या ! अभी तो केवल आरती का आयोजन है, अभी तो देवता का नित्य का शृगार हुआ है। अभी तो प्रभु की रथ-यात्रा होगी, देवता रथारूढ होकर अलौकिक शृगार मे भक्तो के बीच नगर मे यात्रा करेगे। फिर देखना, देवता अपने वैभव से, ऐश्वर्य से किस प्रकार जन-समूह को प्रेरित करते है, आकर्षित करते है····· ·· किस

प्रकार घडियाल-शख की सहस्र ध्वनियो के साथ उठते हुए असख्य कण्ठो के जयघोष मे कितने कुतर्क, कितने सन्देह, कितने भ्रम-सशय डूब जाते हे ! उस समय देखना है कि कौन प्रभु के अनुग्रह को अस्वीकार कर देता है'' ' ' उस समय प्रभु के भक्तो के आत्मसमर्पण की बाढ मे देखना, किसका सन्देह रुकता है, कितनो का विवेक ठहरता है' । और तब देखना, प्रभु के रथ मे कन्धा देने के लिए, उनके रथ का मात्र स्पर्श करने के लिए, उसके साथ आगे-पीछे चलने के लिए, उन पर फूल और मालाएं चढाने के लिए कौन आगे नही बढेगा ! कितनी प्रतिद्वद्विता होगी, कितनी होड होगी और तब देखना, किसके मन का विद्रोह रुक पाता हे !'

'हमारे प्रभु अन्तर्यामी है, उन्होने भक्त का सारा जिम्मा अपने ऊपर ले लिया है। वे अपने भक्तो के हृदय मे सन्देह रहने कैसे दे सकते है ! उन्होने भक्त की रक्षा के लिए सदा ही अपने जन का अहकार अपने ऊपर ग्रहण कर लिया है। ''' वे इस आस्थाहीन विवेक का समर्पण भी स्वय स्वीकार कर लेगे '' अपना लेगे' ''''।'

प्रभु-देवता का रथ आगे बढ रहा है। प्रभा से दैदीप्यमान, फूल-मालाओ से सज्जित, रत्नजटित मुकुट धारण किये प्रभु रथ पर आसीन है। देव-पुत्र पुजारी सोने के रत्नजटित छत्र-दण्ड धारण किये हुए है और मणिखचित मूठ वाले श्वेत चँवर को देवता के ऊपर हिला रहे है'''और देवता के मुख पर वैसी ही मुस्कान अब भी खेल रही है''' और असख्य जनो की भक्त-मण्डली उमड पडी है''' भावावेश मे, प्रभु की एक झलक लेने के लिए, प्रभु का शृगार देखने के लिए, प्रभु की मुस्कान को ग्रहण करने के लिए ! सारा जन-समूह प्रभु-देवता की एक झलक पा जाने के लिए विकल है, एक फूल, एक माला चढा पाने के लिए उतावला है, उनके रथ के निकट पहुचने के लिए कन्धे-से-कन्धा भिडा जा रहा है'''और असख्य-असख्य कण्ठो से निकले हुए जय-घोष मे भक्ति का सागर गरज रहा है' 'उसमे सब कुछ डूब गया है, भक्तो

की समस्त भावनाएँ, उनका व्यक्तित्व और उनका विवेक, सब कुछ इसके आलोडित नाद मे अन्तर्निहित हो चुका है।

और देवता के सन्तान पुजारी मुस्करा रहे है, उनके मुख पर सन्तोष की भगिमा है। उनके मन मे भावना है—'सच ही था, हमारा सोचना ठीक ही तो था। इस विराट् आयोजन मे सब कुछ बहा जा रहा है। अपने को कौन रोक पा रहा है, अपना विद्रोह अब कौन सँभाल पा रहा है···! प्रभु के प्रति समर्पण का यही तो अर्थ है, उनके सम्मुख अपना कुछ शेष नही रहता—भक्त का अपना क्या है! प्रभु की ही मर्यादा है, प्रभु का ही मूल्य है, प्रभु की ही आस्था है, फिर उन सबका समर्पण उन्ही के प्रति क्यो न हो! प्रभु निश्चय ही अनुग्रह करते हैं, और अपने जन के प्रत्येक सन्देह को वे स्वय ग्रहण कर लेते है।'

देवता के पुजारियो के मन जब इस भावना से उल्लसित हो रहे थे, तभी असख्य कण्ठो के जय-नाद को भेदकर वही आवाज फिर सुनायी पडी। और आवाज मे वैसी ही चुनौती, वैसा ही तीखापन है! पुजारियो को आश्चर्य हुआ, वे हतप्रभ हुए—'इतने गगनभेदी जयघोष के अन्दर से यह आवाज ऊपर आ सकती है! कैसी है यह आवाज़! इसकी निष्कम्प दृढता अपूर्व है!'

आवाज स्पष्ट उन तक पहुँच रही है—"हमारे मन का सन्देह जाग चुका है, हमारे मन का अविश्वास जाग गया है! हमारी यह आवाज नही दब सकती, इन झूठे घडियालो और शखो की ध्वनियो से भी नही! और इन असख्य अभिभूत कण्ठो के जय-घोषो से भी नही। हमारे मन के सन्देह ने हमारी दृष्टि को साफ कर दिया है और अब यह सब झूठा आडम्बर, भ्रम, विडम्बना हमको बहका नही सकती। देवता का यह नीरस शृगार, यह आभाहीन मुकुट हमारे मन मे केवल अविश्वास-अश्रद्धा उत्पन्न करता है। हमारी दृष्टि मे देवता ही नही, वे मूल और मर्यादाएँ भी झूठी पड गई है जिनका प्रतिनिधित्व देवता करता है,

जिनके प्रतीक प्रभु है। देव-पुत्रो, तुम्हारे देवता ही पत्थर के नही है, वरन् वे मूल्य भी जड-स्थिर हो गए हे जिनके वे प्रतीक है।

"युग बदल रहा है। तुम्हारा यह उत्सव-आयोजन हमको अधिक दिन भ्रम मे नही डाल सकेगा। यह सारा आकर्पण हमको बहुत दिनो तक अब अपनी ओर नही खीच सकेगा। ...देवता ही झूठे नही है, वरन् उनकी आस्था भी झूठी है। उनके प्रति हमारा समर्पण असत्य है, उनकी श्रद्धा भ्रामक है। ... क्योंकि देवता-प्रभु की प्रतिष्ठा हमारे अपने मन को मिटाकर हुई है, वह समर्पण के रूप मे हमारे व्यक्तित्व को अपनाकर, हमारे अहकार को स्वीकार कर सचमुच हमारे विवेक को अधिकृत किये हुए हे।

"और अब हम इन पुरानी मान्यताओ के प्रति सन्देहशील हो चुके है। आस्था, श्रद्धा, मर्यादा, मूल्य और साधना शब्दो को जिन सदर्भों मे प्रयुक्त करते रहे है, उनके प्रतिष्ठित अर्थों पर हमको विश्वास नही रह गया है। हम इस नये युग मे, आधुनिक युग के सदर्भ मे इन प्राचीन शब्द-प्रतिमाओ को भी अस्वीकार करते हे।"

पुजारियो ने इस तेजस्वी वाणी को सुना, उनको लगा, इस रथ-यात्रा का समस्त घोष इस विद्रोही स्वर को दबाने मे असमर्थ है। उन्होने अपने विभ्रम को दबाते हुए मन को समझाना चाहा—'कैसा यह स्वर है। यह अनास्था भी कैसी है। देवता के प्रति नही, देवत्व के प्रति यह विद्रोह है ... सचमुच यह नयी बात है, ऐसा देखा नही गया, सुना नही गया।...देवता के प्रति विश्वास बदल सकता है, देव-प्रतिमा की प्रतिष्ठा नष्ट हो सकती है, पुराने के स्थान पर नये देवता की स्थापना भी सुनी गई है। पर यह देवत्व को ही चुनौती देने वाला विद्रोह कैसा है। प्रचलित मूल्यो-मर्यादाओं के प्रति यह एकान्त अनास्था कैसी !...और जब मर्यादा नष्ट हो जायेगी, मूल्य विकृत हो जायेगे, आस्था का आधार नष्ट हो जायेगा, फिर आदमी के लिए क्या रहेगा। उसकी सस्कृति का मूलाधार क्या रह जायेगा !'

वयोवृद्ध प्रधान पुजारी की भगिमा कुछ बदली, चिन्ताग्रस्त भृकुटियो का सकोच कुछ फैला, मस्तक पर पडी हुई रेखाएँ कुछ ओझल हुई और मुख पर हल्की मुस्कान, व्यग की छाया के साथ व्यजित हुई। सभी पुजारियो की दृष्टि उमकी ओर आकर्षित हुई, वह कह रहा है—'देवता की सन्तानो, ऐसा ही होता है, ऐसा ही होता आया है ! प्रत्येक युग मे, युग-युग मे ऐसा ही घटित हुआ है। तुम समझते हो, यह विद्रोह की आवाज़, सन्देह की आवाज है, देवत्व के विरोध की आवाज है, पर यह केवल प्रतिष्ठित देवताओ के प्रति नये उभरते हुए देवताओ की आवाज है ! मनु-पुत्रो की देवताओ की पक्ति मे आने की पुकार है, यह शक्ति और प्रतिष्ठा पाने की बलवती अकाक्षा है ! ऐसा ही होता आया है, देव-पुत्रो ! प्रत्येक युग मे जन-समूह से कुछ ऐसे स्वर उठते है जो परम्परा के प्रतिष्ठित देवता के प्रति विद्रोही जान पडते है, ऐसा भी लगता है कि वे समस्त मूल्यो-मर्यादाओ को नवीन दिशाएँ प्रदान करेंगे, हमारे जीवन की दिशाओ मे मौलिक परिवर्तन उपस्थित कर सकेंगे। ·· पर यह हमारे लिए चिन्ता की बात नही है भक्त-समूह के विषय मे चिन्तित होने की बात नही है ।

'देवता की सन्तानो, इस समय केवल सतर्कता अपेक्षित है ! किंचित् सजगता से काम आसान हो सकता है। इस आवाज को पहचानने की कोशिश करो, और अपनी दिव्य दृष्टि से इस आवाज मे उन स्वरो को भी पहचानो जिनमे वास्तविक शक्ति है, प्रतिभा है, तेजी है। ध्यान दोगे, तो तुम को इस आवाज़ मे महत्त्वाकाक्षा के वे स्वर साफ अलग सुनायी देंगे।······हाँ, मै कहता हूँ देव-पुत्रो, मुझे देव-पूजा का लम्बा अनुभव है। तुम इन स्वरो को अलग पहिचानो, इनको महत्त्व प्रदान करो ! मत चिन्ता करो कि इनमे प्रतिष्ठित देवता की अवहेलना है। हमारा कर्तव्य देवता की, प्रतिष्ठित देवता की रक्षा करना नही, प्रतिष्ठित देवत्व की रक्षा करना है; देव-सस्कृति के हम उत्तराधिकारी है। अपने कर्तव्य के निर्वाह के लिए हम जो करे, देवता क्षमा करेगा। ·इस आवाज को

ऊँचा करने के लिए, इस आवाज को गरिमा प्रदान करने के लिए भले ही हमको पूजा-उत्सव, रथ-यात्रा का जय-घोष धीमा करना पड़े···भले ही हमको ।

"और देव-पुत्रो, फिर देखना, तुम्हारे पहचाने हुए स्वर अलग होने लगेंगे; वे स्वर प्रकट होकर अपने को स्थापित करने लगेंगे। जो अभी मात्र स्वर थे वे व्यक्तित्व ग्रहण करेंगे, रूप धारण करेंगे, प्रतिष्ठा प्राप्त करेंगे। · और तभी हमारा अवसर आयेगा, हम जन-समूह से पुकारकर कहेंगे—भक्तो, उपास्य को देखो, यह नया देवता आया है, यह हमारा नया मसीहा है, हमारा नया अवतार है देखो-देखो, देवता ने, हमारे प्रभु ने युग-धर्म के अनुसार नया परिवेप ग्रहण किया है, नया व्यक्तित्व प्राप्त किया है·· हमारे प्रभु ने हमारे ही लिए नया अवतार लिया है ·· और जब हमारी वाणी से आकर्पित होकर सहस्रो दृष्टियाँ उनकी ओर आकर्षित होकर मुड जायेगी, तब यह आवाज स्वय बदल जायेगी, इसका तीखापन, इसका विद्रोही स्वर अपने-आप दब जायेगा · और तब वह नये नवोदित मूल्यो-मर्यादाओ की व्याख्या करने लग जायेगा, उनकी स्थापना करेगा· ··· और हम, देव-सन्तान, नये देवता के नये सत्य का उद्घोष करेंगे, देवत्व की इस नयी परिभाषा-व्याख्या को प्रचारित-प्रसारित करेंगे।

"······ फिर देखना देव-पुत्रो, हमारे इस नये देवता की प्रतिष्ठा कितनी धूमधाम से होती है ! नये देवता की प्रतिष्ठा के उत्साह मे, उल्लास मे, उसके आयोजन की शख-ध्वनि मे कितनी मानव-इच्छाओ आकाक्षाओ की बलि हो जायेगी, इसकी ओर किसी का ध्यान किंचित् भी नही जायेगा ।···· हम देवताओ के मध्य मे नये देवता को प्रधान स्थान देंगे और देव-पूजा का आयोजन, आरती, उत्सव, रथ-यात्राएँ सब यथावत् चलने लगेंगी ।"

पुजारियो—दवता की सन्तानो के मुख पर इस घोपणा से सन्तोष और उल्लास छा गया···उनके हाथो के घडियाल और शखो की ध्वनि

और गम्भीर तथा ऊँची हो गई। आरती की प्रभा देवता के मुख को आलोकित कर रही है···और भक्तो की अपार भीड आवेश मे जैसे और ऊँचा जयघोप कर रही है · लगता है, जैसे वह आवाज़ इस तुमुल नाद के बीच डूब गई है।

लेकिन यह आवाज डूब नही सकती, मिट नही सकती ! ऐसा लगता है इसे कोई विलीन नही कर सकता ! वह सारे घोष को चुनौती देती हुई फिर उभर आती है। पुजारी अपने-आप मे डूबे हुए है, उनमे देव-सन्तान होने का विश्वास जाग गया है, उन्हे देवता की शक्ति पर आस्था है। पर आवाज सारे आयोजन के ऊपर व्यापक होकर फैल रही है। ऐसा जान पडता है, जैसे वह जयघोष के ऊपर तैरती हुई चारो ओर घूम रही है और वह धीमी होकर भी स्पष्ट और तीखी है।

" ······हम सन्देह की आवाज मे बोल रहे है ! हम अनास्था के स्वर मे, अविश्वास के बल पर, देवता के विरुद्ध बोल रहे है ! हम यही नही कहते है, देवता झूठा है, मिथ्या है, भ्रम है; हम यह भी कहते है कि यह देवत्व ही प्रवचना है ! देवता की मुस्कान ही निर्जीव नही है, उसके प्रतीक भी जड हो चुके है···और देवता की ये सन्ताने, पुरोहित भी, आत्म-प्रवंचक है ···!

"यह सन्देह की आवाज़ किसी एक देवता के ऐश्वर्य, आयोजन तथा उसकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध नही है, वरन् उसने देवत्व, देव-सस्कृति से ही विद्रोह किया है। हम देवता के स्वर्ग के विद्रोही है, हम स्वर्ग की प्रतिष्ठा के खिलाफ है ! हम उस विश्वास को नही मानते जो श्रद्धा बन जाये, हम ऐसी आस्था को भी नही मानते जो समर्पित हो जाये ! हम आदमी की उस साधना को अस्वीकार करते है, जिससे देवत्व मिलता है। आदमी को तथाकथित देवत्व प्रदान करने वाले मूल्यो, मर्यादाओ के विरुद्ध हमारा स्वर है और हम उन प्रतिष्ठाओ के भी विरुद्ध है जो देवता को प्रभु, शासक और निर्णायक देवता बनाती है और समर्पित भक्त को भक्त सिद्ध करती है !

" यह आवाज, मनुष्य की आवाज उसके सन्देह की, उसके अविश्वास की है ! यह कुण्ठित, गर्हित, कुत्सित, पतित मनुष्यता का नवीन उद्घोष है ! पहचानो देव-सन्तानो, यह उसी युग-युग मे देवता के चरणो मे समर्पित मनुष्य की आवाज है, जिसका आज अहकार जाग गया है। और इस अहकार के साथ उसके मानव मन का विवेक जाग गया है। हमने अपनी विकृतियो, कुण्ठाओ और ग्रन्थियो को देखा है, हम उनको समझते है। पर वे हमारी है, हम उनको भी स्वीकार करते है। तुम कहते हो, प्रभु ने हमारे समर्पण के साथ हमारी सारी निर्बलताओ को भी स्वीकार कर लिया है, पर हम आज अपना समर्पण वापस लौटा लेने की माँग कर रहे है; हम देवता की श्रद्धा का वरदान भी लौटा देना चाहते है •••!

"हे देव-पुत्रो, पत्थर के देवता को पाषाणी भावनाएँ शोभा दे सकती है, पर हाड-मास के मनुष्यो के लिए वह सब असह्य हो गया है•• •••ये भावनाएँ, श्रद्धापूर्ण समर्पण हमारे मन मे अजब घुटन पैदा कर रहे है •••••। और हमारे अन्दर युग-युग से विचित्र प्रकार का पाषाणी देवत्व स्थापित प्रतिष्ठित रहा है,••• धीरे-धीरे विकसित होता रहा है और यह पाषाणी देवत्व अपने समर्पण मे हमारे सारे व्यक्तित्व, विवेक को ग्रसता रहा है।••• • हमारा अहकार अब देवता के प्रति समर्पित नही होगा, वही हमारा विवेक है, वही हमारा आधार है ! तुम कहते हो, हमारा श्रद्धाहीन व्यक्तित्व आस्थाहीन व्यक्तित्व कुण्ठित और बौना रह जायेगा, • •••हो सकता है, पर वह हमारा अपना ही होगा•••हम झेलेंगे, सुख-दुःख हमारा है, हम सहेगे ! • • • पर अब देवता प्रभु को हमारे व्यक्तित्व का समर्पण नही होगा• • !

"हमारे अन्दर के सन्देह ने विवेक को जन्मा है, और हम देवता पर अपनत्व को छोडकर मुक्त नही हो सकते •। हमारे दुःख-सुख प्रभु नही झेलेगे, हमारे सारे कर्म प्रभु को समर्पित नही होगे••• • क्योकि हमने प्रभु को, देवता को, अस्वीकार किया है। हम देवता के स्थान पर

मनुष्य को जगाना चाहते है, मनुष्य स्थापित नही होता, वह पैदा होता है, जीता है और मर जाता है । • आज का आदमी जीने का अधिकार वापस माँग रहा है, और इसे जीने के साथ झेलने का अधिकार भी मिलना ही चाहिए । समर्पित जीवन निष्क्रिय, अस्तित्वहीन हो जाता है, हमे तो दु ख, पीडा, उत्पीडन का जीवन ही चाहिए ।

"हे देव-सन्तानो, तुम समझते हो हम देवताओ की श्रेणी मे आना चाहते है ! हम देवत्व के नये मूल्य, नयी मर्यादाएँ, नयी आस्था स्थापित करके नये देवता को प्रतिष्ठित करेगे और तुम उस नये देवता की पूजा-अर्चा, उत्सव-श्रृंगार मे पुनः इसी प्रकार लग जाओगे, इसी प्रकार फिर रथ-यात्रा के शानदार जुलूस निकालोगे, और बिल्कुल इसी प्रकार जनता भक्ति-भाव से सहस्रो कण्ठो से जयघोष करेगी और नये देवता, नये प्रभु की मुस्कान पर भक्त अपना सर्वस्व समर्पण करेगे !

"यह तुम्हारा भ्रम है ! वृद्ध पुजारी का कहना ठीक है, ऐसा हुआ है, ऐसा होता आया है । देवता के विद्रोह ने नयी देव-प्रतिष्ठा का रूप ग्रहण किया है •• । पर तुम पहचानने की कोशिश करो, देवपुत्रो ! यह आवाज उनसे अलग है, भिन्न है ! यह एक बिल्कुल भिन्न युग की आवाज है जिसमे देवता के साथ देवत्व के प्रति भी विद्रोह का स्वर है !

' • और वृद्ध पुजारी का कहना है कि हमारी यह आवाज़ देवत्व के परिवेश को ग्रहण करती हुई मसीही वाणी बन जायेगी, हमारी आवाज का विद्रोह आस्था और विश्वास का स्वर बन जायेगा ।••••• और फिर धीरे-धीरे नये देवत्व का उदय होगा •• • उसके साथ ही नये मूल्य नयी मर्यादाएँ जन्मेगी•••••• हमारी आवाज का सारा तेज, तीखापन देवता के पाषाणी व्यक्तित्व, देवता की प्रतिष्ठित मर्यादा मे अपने-आप बदलता जायेगा •• ••और फिर नये देवता •• ।

" •• देवता की सन्तानो, इस सन्देह की आवाज़ को तुम पहचान नही सके, तुम्हारे वृद्ध पुजारी की पैनी दृष्टि भी चूक रही है !

युग-युग से देवता की पूजा के अभ्यास मे देवता के जयघोषो को सुनते-सुनते तुमको साधारण आदमी की आवाज की पहचान भी न रही ! तुम्हारे लिए मनुष्य इतना अपरिचित हो गया है ! कोशिश करो देवपुत्रो !''

देवरथ आगे बढता जा रहा है। शानदार यात्रा चल रही है। देवता के ऊपर फूल-मालाओ का बोझ बढता जा रहा है, पर पुजारी सतर्क है कि प्रभु की मुस्कान इसमे ओझल न होने पाये। प्रभामण्डल से युक्त देवता के ऊपर छत्र-चँवर शोभित है.... पुजारियो के कौशेय वस्त्र हवा मे उड रहे है, उनके उन्नत ललाट पर देवता की गरिमा है, उनका वैभव देवता के अनुरूप है, पर उनकी आँखो मे चिन्ता की छाया है ..सारे जयघोष के उमडते हुए तुमुल कोलाहल के ऊपर उठकर उनका मन किसी आवाज की ओर आकृष्ट है जो अनेक प्रयत्न करने पर भी मिट नही रही है.. चेष्टा करने पर भी उसकी ओर से ध्यान हट नही रहा है। उन्होने चिन्तित दृष्टि से वृद्ध पुजारी को देखा। वृद्ध की किंचित् झुर्रियो मे गम्भीर मुद्रा छिपी हुई है, उसके भव्य ललाट पर बल पडे हुए है और आँखो मे आगत आशका की छाया पड रही है.. ...और वृद्ध पुजारी मन्त्रोच्चार मे अपने को मग्न करने का पूरा प्रयत्न करते हुए भी सफल नही हो पा रहा है .....उठी हुई दृष्टियो ने उसे सतर्क किया। अपने को प्रकृतिस्थ करता हुआ वह मुस्कराया और मन के भावो को सयत करते हुए उसने पुजारियो को सम्बोधित किया, "देवता की सन्तानो, तुम शकित-चित्त क्यो होते हो, तुम्हारा यह धर्म नही है .. तुम आस्थावान्, विश्वासी हो, तुम इस सन्देह की आवाज़ से आज विचलित क्यो जान पडते हो ? प्रभु पर, प्रभु की शक्ति पर विश्वास करो और प्रभु-देवता की सामर्थ्य को भी देखो ! देवता स्वय अपनी आस्था, अपनी मर्यादा का अतिक्रमण सहन नही कर सकते। और तुम देव-पुत्रो, अपने चित्त को शकित करके प्रभु का, देवता की शक्ति का

अपमान न करो, देवता की प्रतिष्ठा को अपमानित करने के अपराधी न बनो···!

"···मै समझता हूँ देव-सन्तानो, तुम्हारी चिन्ता प्रभु के प्रति सन्देह नही है। यह तो देवता का क्लेश है, पीडा है जो प्रभु को अपने जनो को विमुख देखकर होती है । प्रभु कहाँ सहन कर पाते है अपने भक्त की विमुखता! वे तो भक्त के लिए ही प्रकट है, प्रतिष्ठित है, जन्म लेते है।

"···पर देव-मर्यादा के रक्षको, तुम भ्रम मे न पडो! यह आवाज़ अपरिचित नही है! तुम याद करो, स्मृति पर बल दो! बिल्कुल परिचित यह मानवता की आवाज है! यह हमारे परिचित मानव की मानवता की आवाज है! युगो से यह मानववाद की आवाज़ उठती आ रही है। ···और क्या हुआ उसका! तुम परिचित हो देव-पुत्रो! प्रत्येक मानववाद देववाद मे बदल गया है, प्रत्येक मनुष्यत्व का विद्रोह देवत्व मे परिसमाप्त हो गया है। हम जानते है, भलीभाँति जानते है; तुमको याद दिलाने की आवश्यकता नही है।

"··और यह हाल की ही बात है, आधुनिक युग की बात है। हमारी स्मृतियो मे बिल्कुल ताजा। एक नयी आवाज़ उठी थी, एक नया स्वर सुनायी दिया था। पश्चिम से उठा स्वर पूर्व तक गूँज गया था। बहुत बडी परिधि थी उसकी, बहुत विस्तृत सीमाएँ थी उसकी, अपने विस्तार मे कभी तरगे उठी थी उसमे—मानवतावाद, प्रजातन्त्र, जनतन्त्र, लोकतन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद की। और इन सब का मूल स्वर था प्रतिष्ठित देवता के प्रति विद्रोह·· ··देवता के स्थान पर मनुष्य की स्थापना, देवत्व के स्थान पर मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा!

"···पर क्या हुआ देव-पुत्रो! उन बडे-बडे शब्दो, उन बडे-बडे उद्घोषो, उनकी तेजी, उनके तीखेपन से लगता था कि देवता सदा के लिए बहिष्कृत हो जायेगे और साधारण मनुष्य अपनी सस्कृति को जन्म

देगा, स्थापना करेगा। लेकिन क्या हुआ देव-सन्तानो! तुम अपने इन प्रतिष्ठित देवताओं की ओर देखो, पहचानो! क्या ये ही नही है वे आवाजे? क्या ये ही नही है वे मनुष्य की प्रतिष्ठा करने वाले स्वर? क्या उन्होने ही नही किया विद्रोह? प्रतिष्ठित देवताओ के प्रति क्या इनके मन मे ऐसा ही सन्देह, ऐसा ही अविश्वास नही था?

"और तुम देख रहे हो। इनकी प्रतिष्ठा हुई, इनकी पूजा-आरती का आयोजन हुआ। इनकी रथ-यात्रा निकल रही है। और इन देवताओ ने भी मर्यादा-मूल्यो की आस्था की स्वीकृति दी। तुम सुन रहे हो यह जयघोष यह उसी जन-समूह का है जिसके समर्पण से हमारे इन देवताओ की प्रतिष्ठा हुई है। इनके जयघोष मे देवता की प्रतिष्ठित मर्यादा के ही तो स्वर है . तुम सुन रहे हो—समानता, बन्धुत्व, समाज, जन-हित, अहिंसा, पचशील, भूदान—ये ही तो हमारे देवता के मूल्य है, इन्ही मर्यादाओ का तो वे प्रतिनिधित्व करते है।

"··पर देव-सन्तानो, क्या जन-समूह के समर्पण मे कोई अन्तर है? उनकी भक्ति-भावना मे कोई व्यवधान हुआ है? जन-समूह स्वभाव से समर्पणशील है, भक्तिप्रवण है। और हमारे देवताओ ने, आधुनिक देवताओ ने देवत्व के जो मूल्य आविष्कृत किये है, वे जनता को अधिक अभिभूत करते है, कर सके है·। और हम देव-सन्ताने अपने देवता की पूजा-आयोजन मे अधिक विश्वस्त है, अधिक श्रद्धालु है। हमने देवता के गौरव के अनुकूल आयोजन किया है, शख-ध्वनि की है, और रथ-यात्राएँ सजायी है···।

"—और आज तुम चिन्तित हो देव-पुत्रो! तुम इस नयी सन्देह की आवाज से उद्विग्न हो। यह तुम्हारा प्रतिष्ठित देवताओ के प्रति मोह मात्र है। याद करो, हमारा उत्साह, हमारी उमगे इनसे पहले के देवताओ के पूजा-आयोजन के प्रति कम नही थी। फिर क्यो तुम चिन्तित होते हो? युग बदलते है, युग बदलेगे, युग के देवता भी बदलेगे। मैने पहले ही कहा है··और मै फिर कह रहा हूँ, यह आवाज आगे आने वाले

नये देवताओ की है जो प्रतिष्ठित देवताओ को चुनौती देती हुई उभर रही है । देवत्व की कामना, स्वयं इस आवाज मे अन्तर्निहित है ''।

" · और हे देवता के वरद पुत्रो, तुम देख लेना । हो सकता है, यह आवाज मात्र प्रवचना हो, छल हो, भक्तो को गुमराह करने के लिए शैतान की आवाज हो'''और तब यह आवाज भक्तो के समर्पण के प्रवाह मे, प्रभु के वैभव के सामने टिक नही सकेगी यह भक्तो के जयघोष मे सदा के लिए डूब जायेगी '' । और यदि यह आवाज वास्तविक है तो भी चिन्ता की बात नही है, देव-सन्तानो के उद्विग्न होने की बात नही है । · यह केवल नये युग के नये देवता-प्रभु के आगमन की सूचना है '' मै कह रहा हूँ, यह देवता के नये अवतार की भूमिका है तुम सुन लो, नया पैगम्बर आने ही वाला है !"

कहते-कहते वृद्ध पुजारी की वाणी मे भावावेश आ गया । देवता की सन्तानो के मुख पर आत्मसन्तोष की भावना व्यक्त हुई । उनके उद्विग्न मन मे निश्चय का जन्म हुआ, वृद्ध देव-पुत्र की वाणी मे युग-युग का सत्य बोलता है, उसकी वाणी मे आत्मविश्वास का बल है, आस्था की दृढता है । भावावेग मे उन्होने अपने मन को शखध्वनि मे, आरती मे, मन्त्रोच्चार मे अर्पित करना चाहा देवता के अधरो पर खिची हुई मुस्कान उनको सजीव लगने लगी । उन्होने एक बार विह्वल होकर देवता की दीप्तिमण्डित मुखश्री देखी, और फिर उमडते हुए जन-समूह को देखा । उनके कण्ठघोषो मे उनका मन बहने लगा । कुछ क्षणो के लिए लगा, वह आवाज इसी प्रवाह मे लुप्त हो गई है ।

पर यह क्या ! आवाज फिर उभर रही है, फिर सुनायी पड रही है ! 'यह किधर से आ रही है, कहाँ है—इसकी दिशा और इसका स्रोत ! क्या यह सचमुच पहचानी आवाज है !' सभी के मन मे यही प्रश्न उठा । वृद्ध देव-पुत्र के मन मे भी यह प्रश्न प्रतिध्वनित होकर गूज उठा, पर उसने अपने हाथो मे दृढता से शख को पकडे हुए द्विगुणित शक्ति से ध्वनि की, जिससे उसके मन की अनुगूंज से बहकर निकल

जाये। वह अपने प्रश्न को मुख की भगिमाओं पर उतरने देना नही चाहता। पर प्रश्न सबके मन पर छा गया है। क्या यह स्वर सचमुच जाना-पहचाना है ?

नही, यह बिल्कुल अपरिचित आवाज है। यह इस युग की बिल्कुल अपनी आवाज है। यह किसी दिशा से, किसी स्रोत से निकली हुई आवाज नही है। यह देव-पुत्रो का भ्रम है कि किसी खास व्यक्ति या दल की आवाज इस प्रकार अनायास उठ रही है। ऐसा जान पड रहा है, जन-समूह के जयघोष के स्वरों मे से यह आवाज उभरकर ऊपर आ रही है · तुमुल नाद के अन्तराल को वेधकर स्वर निकल रहा है··· जनता के मूक समर्पण से यह विद्रोही स्वर फूट रहा है।

विचित्र स्थिति है। कौन कह सकता है कि इस सन्देह की आवाज का स्रोत यह भक्तो का जय-जयकार ही है! कौन समझ सकता है कि इस आवाज की शक्ति, जन-समूह की अनन्य आस्था की परतो को भेदकर ही उठ रही है! कौन अनुमान लगा सकता है कि यह विद्रोही भावना जन-जन के अन्तर मे प्रवेश पाकर उनके जय-घोषो से मिलकर एक हो जायेगी!

पुजारियो की, देवता की सन्तानो की मुद्राएँ फिर चिन्ताग्रस्त हो गई। उनके उत्साह का ज्वार चढते-चढते ही रुक गया। वे हतप्रभ, विमूढ होते जा रहे है। पहली बार वे थोडे विचलित जान पडते है, पहली बार उनको ऐसा जान पडता है कि मन्त्रोच्चार के स्वर होठो से अलग नही हो पा रहे है, पहली बार ऐसा आभासित होता है कि शख-ध्वनियाँ वातावरण मे मिलते ही स्वरहीन हो जाती है। और वृद्ध देव-पुत्र की भृकुटियाँ सघन हो गई—मस्तक की रेखाएँ उभरकर मिट गई आँखो मे चिन्ता की छाया है और पहली बार, देव-सस्कृति के इतिहास मे पहली बार, देव-पुत्र के शख की ध्वनि काँप गई और आवाज़ सबके ऊपर साफ सुनायी देने लगी ··

"देव-सन्तानो, पहिचानो ! किसकी आवाज है ? किसका सन्देह आवाज बन गया है 'कौन है जो विद्रोह की वाणी मे चुनौती के स्वर मे बोल रहा है ! शैतान ! नया देवता ! नया पैगम्बर ! नही देव-पुत्रो, क्या तुम को अब भी भ्रम है ? सच तो यह है कि तुम्हारे मन में भी सन्देह है, तुम्हारे मन मे अन्ध-विश्वास जागा है, तुम्हारे मन की अन्धश्रद्धा विचलित है। तुम छिपा रहे हो, पर तुम्हारे मन मे देवता की शक्ति के प्रति विश्वास नही रहा ।

" इस सन्देह की वाणी के सामने तुम हतप्रभ क्यो हो ? तुमको प्रभु की सक्षमता पर विश्वास नही रह गया ?···क्या सचमुच तुम इस आवाज को नही पहचान रहे हो ? सुनो, ध्यान देकर सुनो ! शखध्व-नियो के स्वरो पर तैरता हुआ यह क्या है ? जय-ध्वनियो मे अन्तर्निहित स्वर को पहचानने की कोशिश करो !

"देव-सन्तानो, यह तुम्हारा भ्रम है कि यह आवाज उनकी है जो देवता बनने के आकाक्षी है, जो नवीन देवत्व की स्थापना करना चाहते है । और यह तुम्हारी प्रवचना तुमको ही छल रही है··· कि तुम्हारा सब कुछ आयोजन-उत्सव यथावत् चलता रहेगा। ' यह पूजा-आरती-उत्सव और ये रथ-यात्राएँ सब ऐसे ही चलती रहेगी—शंख-ध्वनियो के साथ, जयघोषो के बीच ।

"देवता की सन्तानो, भूल जाओ इस स्वप्न को—देवता, देवत्व, देव-सस्कृति, मूल्य-मर्यादा, आस्था—ये सब बहुत मधुर है, कोमल हैं, भव्य और गरिमामण्डित भी। यह सब बहुत मोहक, आकर्षक होकर भी वापस नही लौट सकेगा ।

"इस अन्तिम बार की झाँकी मे देवता की निर्जीव मुस्कान क्यों करुण जान पडती है ! यह शृगार, यह पूजा, यह आरती, इस रथ-यात्रा का आयोजन कितना शानदार है, पर अन्तिम परिणति मे कितना व्यगा-त्मक जान पडता है ! ··आज तुम सबकी उद्विग्नता के साथ हमारा स्वर भी न जाने क्यो करुणाद्रवित है !

"शायद इसलिए, इसीलिए कि हजारो वर्षों, न जाने कितने बीते युगो से जन-समूह इस सब का अभ्यस्त हो गया है, इसके प्रति अपने को समर्पित करके आत्मविस्मृत रह सका है। और आज जब यह सब बदल रहा है, तब मन मे कही कुछ दर्द का, पीडा का अनुभव होना भी स्वाभाविक है। अपनी परम्परा को छोडने मे, अपने सस्कारो से अलग होने मे क्लेश होता ही है !

"पर सुनो देव-सन्तानो, सुनो देव-पुत्रो, स्पष्ट सुन लो ! आज हमारा सन्देह जाग गया है—वह निष्क्रिय सन्देह नही, जो आदमी को सम्बलहीन निर्वीर्य बनाता है—वह सन्देह जिसकी ज्वाला मे प्रखर विवेक तपता है, निखरता है, जिसमे व्यक्तित्व ढलता है। यह वर्ग या दल की आवाज नही है, यह विमूढ-विमुग्ध जनता की मुक्ति की अनुगूँज है · और निश्चय ही इन जय-घोषो मे तुम पहचान रहे हो

"और भी सुनो देव-पुत्रो, यह देवता की नही, देवत्व की नही, केवल इन्सान की आवाज है, नये देवता की नही, नये इन्सान की ! वृद्ध देव-पुत्र को आश्चर्य है यह नया इन्सान क्या ! आश्चर्य उचित है। उसने मनुष्य को इस रूप मे कभी पहचाना नही, जाना नही। उसने तो मनुष्य को केवल देवता बनते देखा है, देवत्व मे प्रतिष्ठित होते देखा है। यह कैसा मनुष्य है जो नये परिवेश मे जन्म ले रहा है !

"पर नही देव-सन्तानो, यही सच है। आज देवता के स्थान पर मनुष्य का जन्म हुआ है, देवत्व की गरिमा से बिलकुल विहीन मनुष्य का, जिसमे अपना विवेक होगा, अपना व्यक्तित्व होगा। प्रचलित मूल्य-मर्यादा, श्रद्धा-आस्था, आदर्श-साधना सब अर्थहीन हो रहे है। वे केवल शब्द है जिनमे गूँज है, पर अर्थ नही।

"तुम यह न समझो कि हम इनको नये अर्थ प्रदान कर इनको पुन. देवता की भाँति स्थापित करेगे। हम देवता के विद्रोही है, हम देव-सस्कृति के विद्रोही है, हमारे लिए इन छूछे शब्दो का क्या प्रयोजन है ! हम परिवर्तन के पक्ष मे है ! स्थापित, प्रतिष्ठित के विरुद्ध है !

"हमारा सन्देह का स्वर मनुष्य को मानकर चलने के पक्ष मे है। मनुष्य जो समर्पित न हो, जिसने अपने व्यक्तित्व को, विवेक को किसी देवता की झोली मे सदा के लिए न डाल दिया हो, वही हमारी मान्यता है। हमारी इस नयी मानवीय सस्कृति का आधार होगा यही इन्सान, जो दुर्बल है, कोमल है, कुत्सित है, सुन्दर है। हम उसी मनुष्यता को, नयी इन्सानियत को जन्म देने के लिए विकल हैं जिसमे मनुष्य का मानवीय प्यार होगा, घृणा होगी, स्वार्थ होगा और ईर्ष्या होगी।

"यह आधुनिक मनुष्य, यह नया मनुष्य अपनी कमजोरियो से ही बल ग्रहण कर अपने विवेक के सहारे आगे बढेगा, उसे देवता का वरदान नही चाहिए, उसे देवत्व की गरिमा भी नही चाहिए।

"तुम कहोगे · यह मनुष्य, मात्र मनुष्य सस्कृति का आधार नही बन सकता, वह निर्बल है, असयत है, कुण्ठित है, बौना है और उसका व्यक्तित्व, विवेक केवल अहकार है। मर्यादा-मूल्य के लिए देवत्व की दृढता, सयम और विश्वास चाहिए और इन्ही पर सस्कृति का विकास होता है।···पर देव-पुत्रो, हमने देव-सस्कृति का मोह स्वप्न छोड़ दिया है, मानवतावादी सस्कृति का जयघोष भी भुला दिया है, हमने केवल दीन-हीन मनुष्य को स्वीकार किया है। हमारी अगली सस्कृति का चरण इसी निर्बल मनुष्य की गति का प्रतीक होगा।"

कुछ क्षण आवाज गूजती रही। रथ-यात्रा आगे बढती जा रही है, सारा क्रम पूर्ववत् चल रहा है · पर स्पन्दहीन, स्वरहीन, वैभवहीन-सा। पुजारी, स्तब्ध मौन, जड है · उनकी क्रिया केवल यत्रवत् है। असख्य-असख्य कण्ठो के जयघोष के बीच पुन आवाज उभर आई ···

"और देवता की सन्तानो, तुम्हारे वृद्ध देव-पुत्र का कहना है कि यही देवता का, नये देवता का प्रारम्भ है, यही तो नये देवता की प्रतिष्ठा है···ऐसे ही हुआ है, ऐसा ही होता है।"

एक क्षण रुककर स्वर पुनः ऊँचा उठा

"वृद्ध देव-पुत्र की प्रवचना मे भी सत्य है। हम मानते है, ऐसा हुआ हैं; हम स्वीकार करते हे कि कई बार मनुष्यत्व के नाम पर, मनुष्य के साथ विश्वासघात हुआ है। पर देव-पुत्रो, हम इस बार सतर्क है! हमारी सन्देह की आवाज, जो हमारा भी अन्ध-विश्वास नही करती, वह हमारी रक्षा करेगी। वह हम को देवत्व की गरिमा के आकर्षण से बचायेगी। हमारी कमजोरियाँ, हमारा प्यार हमको धरती छोडकर ऊपर उडने नही देगा, और हम देवत्व की ओर उन्मुख नही हो सकेगे।"

आवाज का तीखापन और उभर आया—

"और देव-पुत्रो, और यदि किसी दिन हम पर देवता की छाया पड़ी ही, यदि हम पर देवता की आभा आविर्भूत हुई ही, हमारे स्वतन्त्र विवेक पर देवत्व का पाषाणी सस्कार जागा ही, तो सुन लो देव-सन्तानो, हमारी यही सन्देह की आवाज मनुष्य की घृणा की शक्ति लेकर प्रति-हिंसा का आवेश जगाकर हमारे पत्थर होते व्यक्तित्व के देवता पर घोर बज्रप्रहार करेगी। वह अकरुण, निर्मम होकर धीरे-धीरे पत्थर होने वाले हमारे व्यक्तित्व को तोडकर नष्ट कर देगी' और हम देवता के बरदान से, देवत्व के अभिशाप से बच जायेगे!"

प्रभु-देवता की रथ-यात्रा आगे बढ रही है। रथ पर देवता अपने समस्त शृगार मे प्रतिष्ठित है छत्र ··चँवर···दण्ड सब यथावत् है। पुजारियो के घडियाल-शख ध्वनित है और असख्य कण्ठो का जयघोष हो रहा है।···पर सब नीरस है, फीका है, उदास है; क्योकि आवाज इन सबके उपर उठ रही है—एक आवाज जो सन्देह की है, अविश्वास की है, जो अनास्था की हे, अन्वेषण की है, विद्रोह की है!

अर्थहीन

अर्थहीन

पैसेजर ट्रेन से कस्बे के स्टेशन पर उतरते ही लगता है जैसे यहाँ वह पहले कभी आया हो, पर याद अब ऐसी धुँधली पड गई है कि पहचान नही पा रहा है। कुछ देर वह अपने कम्पार्टमेट के सामने खडा चार-पाँच कमरो के स्टेशन पर पडे हुए शेड को कई तरह के साइनबोर्डो के साथ मिला कर देखता रहता है। कुछ लोग उतरते-चढते, आते-जाते हल्की-सी भीड का एहसास देते है और खोचे वालो की आवाजे मिल-जुल कर शोर-गुल का आभास जान पड रही है। उसके लिए यह सामान्य भी है और अपरिचित भी। एक अधेड कुली क्षण भर रुक कर उसे देखता है, फिर इस देखने मे ही चकित होने का भाव व्यजित है। यह व्यवहार असुखद है, पर कुली कम्पार्टमेट से सामान उतारने चला गया है।

कुली के पीछे चल रहा है। रास्ता कुछ दूर चढाई पर जाकर बाई ओर मुड जाता है। कुली फिर बाजार के अपेक्षाकृत चौडे रास्ते पर आ गया है, कस्बे के इस बाजार को पार कर रहा है। लेकिन उसे कुछ भी पता नही है कि वह इस प्रकार कुली के पीछे कहाँ जा रहा है। बाजार की छोटी-बडी दूकानो मे दो-दो चार-चार आदमियो की भीड है, और इस छोटे से बाजार मे सभी कुछ है। दो-चार कहने को रेस्तराँ भी है, साधारण चायघर से अधिक नही। एक-दो जगह लोग सडक पर स्टूलो और टीन की कुर्सियो पर बैठे चाय पी रहे है। यह छोटा-सा पहाडी कस्बा है, पर इसमे कुछ भी कही विशिष्ट या अपना नही लगता।

बाजार के समाप्त होते-होते कुली दाहिनी ओर की एक गली मे हो कर पहाडी ढाल की एक बस्ती मे आ गया है। पर कुली निचले ढाल की घनी, गदी, टीन से छाये नीचे घरो की गरीब बस्ती को एक ओर

छोड कर, ढाल के ऊपरी हिस्मे की बँगलो वाली बस्ती की ओर चढ रहा है। वह चलता हुआ इस बस्ती को पहचानने की कोशिश कर रहा है, पर सामने ऊपर की ओर के बँगले कैसे है ! वह सब कुछ भूल गया है। कुली पतले रास्ते से होकर ऊपर चढ रहा है और कई बार मुडने के बाद एक छोटे-से बँगले के कम्पाउंड मे प्रवेश करता है।

बँगला साफ सुथरा जरूर है, पर ऐसा नही लगता कि उसमे कोई रहता भी है। कुली सामने के बरामदे मे सामान उतार कर किसी की खोज मे चला गया है और वह पोर्टिको मे खडा रहता है। कुछ भी नही समझ पा रहा हे। कुली आ गया और उसी समय सामने ड्राइगरूम का दरवाजा खुलता है। एक बूढा आँखो में उत्सुकता और कौतूहल लिये खडा है, पर वह न उसके आन्तरिक हर्ष को ग्रहण कर पाता है और न उसके सकुचित उल्लास को समझ पाने मे समर्थ है। वह अपनी शारीरिक चेष्टाओ के प्रति तटस्थ है, फिर जैसे सब अपने-आप घटित हो रहा है। ऐसा ही नही कि यह सब केवल उसके बिना सहयोग के घटित हो रहा है, वरत् इस सबसे उसकी किसी स्तर की ससक्ति भी नही है।

वह ड्राइगरूम मे बैठा है। यहाँ आये एक घटा से अधिक बीत चुका है। इस बीच उसने स्नानघर मे नहा-धोकर कपडे बदल लिए है। बिना सजग प्रयत्न के वह इस घर मे आवश्यकता के स्थान पर पहुंच जाता है, जैसे सदा इन सब चीजो का उपयोग करता रहा हो। फिर बूढा आकर प्रस्तुत हुआ और वह समझ गया कि खाने के कमरे मे जाना होगा। बूढा जिस ओर से आया था, उसी ओर वापस चला जाता है और वह बाँये ओर के द्वार के परदे को हटा कर खाने के कमरे मे प्रवेश करता है। कमरे मे मेज पर आमने-सामने दो कुर्सियाँ लगी है और शेष एक ओर रखी हुई है। वह अन्दर के बरामदे के सामने पडने वाली कुर्सी पर बैठ गया है। इन्तजार कर रहा है, पर किसका ? शायद चाय का। ट्रे के साथ एक अधेड स्त्री प्रवेश करती है, वह उसकी ओर उत्सुकता से

देखता है। पर स्त्री के हल्के-से घूँघट के नीचे की हर्ष-मिश्रित ममता के साथ ही वह पुन: पूर्ववत् असपृक्त हो जाता है।

सामने चाय की केतली से भाप निकल रही है, उसने अपना प्याला सीधा कर लिया है। दूसरी ओर की कुर्सी के सामने का प्याला उल्टा हुआ रखा है और वह इन्तजार कर रहा है। यह खाने का कमरा बहुत साफ-सुथरा है, दोनो ओर की अलमारियो मे क्रॉकरी, चमकते हुए धातु के बर्तन और शीशे के अमृतबान सजे हुए है। उसे लगता है, वह इस तर-ताब और सजावट से परिचित है। पर इन अमृतबानो के अचार, मेवे और मिठाइयाँ! पर यह सब कही कुछ विशिष्ट नही, केवल सामान्य और अपरिचित! सामने की कुर्सी खाली है, उस ओर का प्याला अब भी उल्टा रखा है। प्लेट से बिस्कुट लेकर कुतरता हुआ वह अपने चाय के प्याले की प्रतीक्षा मे है, अपना प्याला दूसरी ओर खिसका दिया है।

वह इसी प्रकार बिस्कुट कुतरता रहता है, चायदानी से भाप भी निकलती रहती है। उसका खाली प्याला आगे सरका हुआ है, चाय ढालने के लिए। सामने की कुर्सी पूर्ववत् खाली है और उसके सामने का प्याला वैसा ही उल्टा रखा है। विलम्ब हो रहा है, खीझने का एहसास नही होता, पर वह प्रतीक्षा कर रहा है। बूढा एक ओर खडा देखता है, देखता रहता है और कुछ सोच कर चला जाता है। फिर लगा, सामने की कुर्सी पर कोई आ गया है, उसका ध्यान केतली से उडती हुई भाप से हट जाता है। आये हुए व्यक्ति ने अपना प्याला सीधा कर लिया है और पॉट सँभाल कर चाय उँडेलने-बनाने मे सलग्न है।

वह चाय पी रहा है, शिथिल भाव से महसूस करता है कि सामने का व्यक्ति साथ दे रहा है। यह कौन है? वह नही जानता, बिल्कुल भी नही जानता। वह यहाँ का कुछ भी तो नही जानता। इस बीच मे बूढा एक-दो बार आता है, मेज पर कुछ रखता-उठाता है। दाहिनी ओर का परदा ड्राइग-रूम से अलग करता है, पर सामने का परदा हवा से उड रहा है, जिससे बरामदा और आँगन का आभास मिल रहा है।

उस ओर वाली कुर्सी का व्यक्ति मौन अस्पष्ट है। कप खाली हो जाने पर उसी प्रकार चाय फिर बना दी जाती है। वह धुँधली होती चाय की भाप के साथ इस खाने के कमरे का अनुभव करता है।

चाय पीकर वह उठ जाता है। ड्राइंग-रूम की ओर बढते हुए लगता है जैसे कोई कुछ पूछ रहा है, मुडकर वह देख लेता है। सामने अधेड स्त्री प्रश्न की मुद्रा मे खडी है और उसके हाथ टी-पॉट पर है। वह किसी बात का उत्तर नही जानता, उसके लिए सभी प्रश्न अपरिचित है। लेकिन दूसरी ओर की कुर्सी वैसी ही खाली है और उसके सामने का प्याला उल्टा हुआ अब भी रखा है।

उसे स्टडी मे पुस्तको को उलटते पुलटते दो घटे बीत चुके है। इस कमरे की दीवाल की अलमारियो मे किताबे सजी हुई है और बीच मे कई सेल्फ इस प्रकार लगे हुए है कि पूरा अध्ययन-कक्ष दो भागो मे बँट जाता है। दोनो ओर पढने की मेज-कुर्सी के साथ एक-एक आरामकुर्सी भी है। वह एक ओर आरामकुर्सी पर इतनी देर से लेटा-लेटा कई पुस्तके और मैगजीन उलट चुका है, पर मन को कही कोई पकड नही मिल पा रही है। वह चाहता है कि दूसरी ओर का व्यक्ति आकर उसे बाधा पहुँचाये। वह मेज पर आ गया है। उसे कुछ लिखना है। मेज पर सब कुछ ठीक ढग से व्यवस्थित है—कागज, पैड, कलम। उसके बगल मे लगी हुई रेक मे किताबे सजी हुई है। वह लिखने के लिए एक के बाद एक पुस्तके निकाल-निकाल कर मेज पर लगाता जा रहा है। दो-चार जगह खोलता है, दस-पाँच पेज पलटता है और असतुष्ट होकर पुस्तक को बन्द कर एक ओर रख देता है। न तो वह नोट्स ले सक रहा है और न कुछ लिख ही पा रहा है। उसे आभास मिलता है, दूसरी ओर मेज पर उसकी तरह कोई व्यक्ति व्यस्त और व्यग्र है। वह अनुभव करता है कि प्रस्तुत विषय पर उस व्यक्ति से बहस की जा सकती है।

वह सेल्फ पर पुस्तको मे उलझा हुआ है। दर्शन, साहित्य, अर्थ-

शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र कही कुछ उसे पकड नही रहा है। प्लेटो, अरिस्टॉटिल, होमर, वर्जिल, मनु, वेदव्यास, कालिदास, शेक्स-पियर, काट, ह्यूम, देकार्ते, रूसो, मिल, तालस्ताय, दास्तेवेस्की, विक्तर ह्यूगो, डिकेन्स एक-एक कर जिल्दो पर दृष्टि दौडती है, पर कही भी रुक नही पाती। मानवीय ज्ञान, चिन्तन, मर्यादाएँ, मूल्य, आदर्श और सर्जन · सब से टकरा-टकराकर वह लौट आता है। कुछ भी नही है जो ग्रहण कर पाता हो। वह एक सेल्फ से दूसरी सेल्फ, एक अल-मारी से दूसरी अलमारी मे खोज रहा है। पुस्तको के शीर्षको, लेखको के नामो और कभी उनके पृष्ठो मे जैसे कुछ खोया हुआ है। उसका अपना होने पर भी, वह नही जानता क्या है।

रेक पकड कर खडा है। दीवारो पर तस्वीरे वैसी ही टँगी है। स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण, विवेकानन्द, गाधी, तिलक, रवीन्द्रनाथ ·· सभी जैसे सन्देश और आशीर्वाद की मुद्रा मे अकित है। उनकी भव्यता, पवित्रता, गरिमा, महानता, उच्चता सब उनके साथ चित्रो मे अकित है। फिर सत्य, अहिसा, प्रेम के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन, असहयोग, सत्या-ग्रह का मिटती हुई ध्वनियो मे जैसे उसे आभास मिलता है। उम सँकरी जगह मे वह टहलने का प्रयत्न कर रहा है। लग रहा है जिससे वह परिचित है, उसमे अतिरिक्त भी कुछ है। यह ऐसा ही, इतना ही नही है वह !

वह सोच रहा है, सोचने की कोशिश कर रहा है। लेकिन नही जानता कि क्या सोच रहा है, या क्या सोचना है। यहाँ इस वातावरण मे जरूर कुछ ऐसा है कि आदमी को अपनी विवशता का एहसास हो। पर यह भी उसे कही पकडता हो या घेरता हो, ऐसा नही है। जैसे वह अपने अनुभव से मुक्त हो, तटस्थ हो। लगता है, दूसरी ओर की मेज पर कोई अत्यन्त व्यस्त है। कागज और पेन की आवाज स्पष्ट सुनायी दे रही है। पार्टीशन से झाँक कर देखता है कि कोई व्यक्ति कुर्सी पर बैठा मेज पर झुका है, सामने कई पुस्तके खुली है और लिखने मे एकाग्र है।

अधेड स्त्री स्टेडी के उस ओर द्वार के परदे से निकल कर सामने आती है। वह समझ लेता है भोजन का समय हो चुका है, खाने के कमरे मे पहुँचना है। जल्दी-जल्दी वह फैली हुई किताबो को व्यवस्थित करने लगा है। उसी समय दूसरी ओर के द्वार मे वृद्ध प्रवेश करता है; उसकी दृष्टि से वह समझ लेता है कि यह काम हो जायेगा, उसे भोजन पर जाना चाहिए। वह ड्राइग-रूम की ओर से जाते समय देखता है, उस ओर की कुर्सी खाली है और मेज के कागज पूर्ववत् व्यवस्थित है।

वह सोने के कमरे मे पलग पर लेटा हुआ है। एक घटा पहले खाना खा चुका है। तब से वह इतजार कर रहा है, किसका ? खाना खाते समय वह व्यक्ति उसे परोसता रहा था, उसका साथ देता रहा था। लेकिन कमरा छोड़ते समय उसने देखा था, उसके सामने की कुर्सी पहले जैसी खाली है और उसके सामने की प्लेटे वैसे ही उल्टी रखी हुई है। कमरे की ओर एक दूसरी खाट बिछी है और वह समझ रहा है कोई दूसरा व्यक्ति भी आने वाला है। वह आयेगा, फिर बातचीत मे दोपहर बीतेगी, बातचीत हो सकती है, बहस भी ·····पर कौन है वह व्यक्ति ?

कमरे मे परदो से होकर हलका-हलका प्रकाश आ रहा है। दीवाल पर केवल कुछ चित्र है—सामने योगिराज कृष्ण है, एक ओर गाधी और दूसरी ओर ईसा। यह उसका अपना कमरा नही हो सकता, पर यहाँ अब कुछ भी अपना नही लगता। कुछ भी ग्रहणीय नही लगता, वह अपने अस्तित्व के प्रति तटस्थ है। वह देखता है, अनुभव करता है, सारे घटित के साथ है, पर उसका निजी अपना कही कुछ नही है। फिर भी लगता है कि वह किसी की प्रतीक्षा मे है। कमरे का दूसरा पलग अब भी खाली है।

उसे नीद आ रही है, सोना चाहता है। थक गया है, बहुत थक गया है। थकान बढ़ती जा रही है, उसे अपना अस्तित्व ही बोझ लग

रहा है और वह अपने-आप से थक रहा है। यह उसके लिए बोझा है जिसे ढोता तो है, पर उसकी ससक्ति नही है।

"तुम इसे गलत समझते हो ?" वह नही समझ पाता, इसका उत्तर इस नये फैशन की युवती को क्या दे। युवती ने कार को एक चौडी रोड पर मोड लिया है और स्टियरिग ह्वील को सीधा साधते हुए पुन पूछा—"तुम तो चुप हो, जवाब दो न !" गाडी इस विस्तृत मार्ग पर दौड रही है और दोनो ओर पाँच-पाँच छ-छ मजिलो की इमारते जैसे उठती चली जा रही है। यहाँ लग रहा है कि देश आधुनिक प्रगति का दौड मे आगे बढता जा रहा है। और इसके साथ ही न जाने कितनी विशाल इमारते, कारखाने, प्राजेक्ट, मशीने, इजन और यत्र बनते और बढते जा रहे है। वह क्या उत्तर दे, उसके मन मे जो कुछ है, क्या इतना साफ और स्पष्ट है कि इतनी आसानी से कहा जा सके !

"इस प्रकार चुप रह कर तुम कहना क्या चाहते हो ?" उसने गाडी की रफ्तार धीमी कर दी है और पीछे की कारो को आगे बढ जाने के लिए हाथ दे रही हैं। युवक ने जैसे कुछ ढूढ कर कहा हो—"सच यह है कि मैं समझ नही पा रहा हूँ।" " ··· क्या ?" उसने ह्वील को सतुलित करते हुए कहा। "··· "यही जो देखता हूँ और तुम कह रही हो !" अब गाडी बहुत चमक-दमक वाले विशाल होटल के सामने खडी है। और युवती ने उतरते हुए कहा—"हम कुछ देर यहाँ बातचीत करेगे।" बगल से उतर कर वह उसके पीछे हो लेता है।

द्वार के भव्य वरदी से सज्जित चमकती हुई बेल्ट वाले प्रवेशक ने सेल्यूट करते हुए सामने का द्वार खोल दिया और दोनो ने वातानुकूलित इमारत मे प्रवेश किया। युवती ने बगल के कण्ट्रोलर से अपने कमरे के नम्बर की चाबी माँग ली, फिर दोनो मखमली कार्पेट पर होते हुए लिफ्ट से ऊपर के कमरे पर पहुच गए। कमरे की शीतलता का अनुभव करते हुए दोनो एक-दूसरे के सामने आरामकुर्सियो पर बैठे है। प्रतीक्षा मे है

कि कोई बात शुरू होने वाली है। युवती ने अपने दोनो हाथो पर ठुड्ढी रख ली है, और उत्तर की प्रतीक्षा कर रही है। परन्तु इस कमरे मे पहुँचने के बाद, लग रहा है जैसे वह ऐसे यथार्थ के बीच मे है जिस पर उसका कोई अधिकार नही। फिर वह क्या कहे !

'तुम्हारा यह मौन दुर्वेध्य है, मै इससे थकती और ऊबती जा रही हूँ, स्वरूप।" कुर्सी पर किंचित् फैलते हुए युवती ने बात शुरू की। वह चौका और कमरे के हल्के स्वप्निल प्रकाश मे अपने को खीच कर उसने कहा—"सचमुच सुनीति, मेरे लिए समझना ही कठिन हो गया है।" वह मेज पर झुक गया और युवती ने दृष्टि ऊपर कर ली। कुछ क्षण रुक कर उसने कहा—''लेकिन इसमे ऐसा है क्या ?" अपने ध्यान को मेज पर एकाग्र रखते हुए युवक उत्तर देता है—"शायद सस्कारो का, या आदर्शों का, अथवा भावभूमि का अन्तर हो सकता है और क्या कहूँ ?"

युवती ने अपने को समेटा और दिशा पाकर उत्साह से बात को आगे बढाना चाहा—"तो तुम्हारा कहना है कि हमारे सस्कारो और आदर्शों मे ही नही, वरन् हमारे भाव-बोध के स्तर मे भी अन्तर आ चुका है।" फिर कुछ क्षण दोनो चुप हैं। लगता है, उसके पास आगे कहने को कुछ नही है। युवती को पुन सवाल उठाना पड़ता है—'अच्छा, मान लिया जाय कि है, तो क्या यह ऐसा नही है कि तुमने अपनी पिछली भूमि से आगे बढने का प्रयास नही किया और दुनिया आगे बढती जा रही है ?"

वह कुछ सीधा होकर बैठ जाता है, लग रहा है कि उसकी बात धीरे-धीरे अस्पष्ट होती जा रही है। वह समझाने का प्रयत्न करेगा—"सुनीति, यदि ऐसा मान सकता तो अधिक आसान होता। लेकिन यह भी इन्कार कैसे करूँ कि दुनिया सचमुच आगे बढती जा रही है !" युवती इससे खीझती है। वह खडी होकर कुछ सोचने लगती है, फिर आगे बढ़ कर कॉलबेल का बटन दबाती है। वापस आकर वह प्रकृतिस्थ

जान पड़ती है—"यह तुम्हारा सारा एप्रोच भी खूब है, ठीक है और नही भी है। यह भी ठीक है और वह भी ठीक हो सकता है। मै भी ठीक हूँ और युग भी ठीक है। मेरे लिए तो यह सारा गोरखधधा है!"

बेयरा कमरे मे उसी समय प्रवेश करता है और युवती की आज्ञा की प्रतीक्षा मे खडा हो जाता है। वह अन्यमनस्क भाव से कॉफी तथा सैंडविचो के लिए कह देती है और बेयरा उसी प्रकार जाने लगता है। लेकिन उसके जाते-जाते वह बियर का आर्डर देते हुए स्वरूप से कहती है—"भई माफ करना, मै बहुत थक गई हूँ। तुम समझ लो, आठ बजे सुबह से मै अत्यन्त व्यस्त रही हूँ।" पैरो को पास की छोटी मेज पर फैलाते हुए वह कह देता है—"तुम मुझे गलत समझती हो, तुम लोग जिस परिस्थिति मे चल रहे हो उसमे यह ठीक है, और इसे मै मानता हूँ।" वह अपनी कुर्सी पर बैठते हुए अपनी बात पर बल देने के भाव से कहती है—"गलत समझती हूँ! लेकिन इसका मतलब यह भी हुआ कि तुम खुद गलत रास्ते पर हो' कम से कम आज के युग मे।"

"यही मै स्वीकार करने मे अपने को असमर्थ पाता हूँ। जो है उसे मान लेने पर भी यह कैसे सिद्ध होता है कि वही स्पृहणीय है?" उसने अपने दोनो हाथ सिर के पीछे कर लिए है। युवती के मुख पर हल्की-सी उत्तेजना आ जाती है—"तुम्हारी मनोवृत्ति के लोग, जो है, उससे स्केप करने के लिए मूल्यो के एक स्पृहणीय लोक की कल्पना मे जीते है!" बेयरा कमरे मे आकर मेज़ की व्यवस्था करता है, प्लेट्स लगाता है, कॉफी का पाट और प्याले आदि सजा कर रखता है। वह अपनी ओर का प्याला हटवा कर बोतल आदि लगवा लेती है।

सब ठीक करने के बाद बेयरा कायदे के साथ वापस चला गया है। अब दोनो मौन थे। युवती ने पहले कॉफी तैयार की, फिर अपने गिलास मे बियर डाल ली है। दोनो अपने-अपने पेय का सहारा ले रहे है। युवती ने घूँट लेते हुए कहा—"तुम जानते हो, मैं अधिक स्ट्राग की अभ्यस्त हूँ।" उसने सहज उत्तर दिया—"तो वैसा ही लेना चाहिए था,

तुम थकी हो और व्यग्र भी ।" ऐसी शिथिलता उसे उबाने लगती है और ऊब से वह मथित होती है—"चल जायगा, फिर तुम्हारा खयाल भी मुझे है ।" युवक ने प्याला मेज पर रखते हुए प्रतिवाद करने का प्रयत्न किया—"मैं खयाल करने की अपेक्षा अब नही रखता, चलने की बात ही प्रमुख होनी चाहिए । यह खयाल करना शायद हमारी-तुम्हारी दोनो की दृष्टियो से व्यर्थ हो ।"

उसने किंचित् चौक कर गिलास मेज से उठा लिया, ओठो मे लगा-कर जैसे अपने को सयत करने का प्रयत्न कर रही हो, फिर वह ओठो को दबाते हुए कह देती है—"यह व्यर्थ होना क्या है ? अर्थ, अर्थ, जिन्दगी मे हर क्षण, हर अवसर पर अर्थ की माँग भी कैसी भयानक है ! लेकिन तुम्हारी भी मजबूरी है, तुम बिना इसके जीवन मे कभी चले ही नही हो ; फिर यदि कही अर्थ नही दिखा तो तुम निरर्थक को ही मूल्य के रूप मे प्रतिष्ठित कर लोगे ।" वह उसकी ओर देखता रहता है, सम झने का प्रयत्न कर रहा है । वह उसके दीप्त मुख और शीशे के गिलास की भूरी बियर को एक साथ देखता है । वह सकुचित होकर पूछती है —"क्या देख रहे हो ?" देखते हुए ही वह उत्तर देता है—"तुम को ही !" वह चकित है—"मुझ को !" उसने प्रकृतिस्थ भाव से ही कहा —"हाँ, तुम्ही को, तुम्हारी सार्थक और निरर्थक के परे की स्थिति को !"

गिलास को मेज पर पुनः रख कर वह मुस्करा देती है—"ओ, ऐसा ! तो तुम समझ रहे हो ?" उसने सैडविच का एक टुकडा उठाते हुए तटस्थ भाव से स्वीकार किया—"कहूँगा, नही ही समझ सका हूँ । मात्र देखना समझना नही है । मैं मूल्यो को मान कर चला हूँ, उनसे परिचित रहा हूँ । और यह भी मानता हूँ कि एक ऐसे जमाने से गुजर रहा हूँ, मूल्य-हीनता ही जिसका मूल्य है, पर तुम्हारी यह स्थिति ?" वह मुस्करायी—"खैर, तुम मुझे देख रहे हो, यह भी कम नही है ।" वह जिज्ञासा की मुद्रा मे कहता है—"पर सुनीति, यह है क्या ?" वह अपना गिलास उठा

कर खाली करती हुई प्रकृतिस्थ भाव से उत्तर देती है—"इसमे समझने जैसा है ही क्या ? स्वरूप, यह सब अर्थहीन लगता है न, यही मैं हूँ !"

कार पुन सडक पर दौड रही है, युवती के दोनो हाथ स्टियरिंग-व्हील पर सहज ही रखे है और वह हल्की उत्तेजना मे कहती जा रही है। बगल का व्यक्ति केवल श्रोता के रूप मे बैठा सुन रहा है—"स्वरूप, तुम मुझ को देख कर आश्चर्य करते हो, पर तुम देश की जिन्दगी देख रहे हो। आज से बीस साल पुराने स्वप्नो से आज की यथार्थ जिन्दगी को मिलाने की कोशिश करना कहाँ तक ठीक है ? लेकिन कोई स्वप्नो मे जीना चाहे तो उसे सोते रहना पडेगा, यथार्थ का साक्षात् तो जागने वाले को ही हो सकता है। देश को आगे बढने की आकाक्षा है, प्रगति के लिए हमको औद्योगीकरण, केन्द्रीकरण और यंत्रीकरण करना ही होगा, और उसके लिए वैज्ञानिक तथा प्राविधिक उन्नति भी अनिवार्य है।"

"और यह सब भी उसके साथ अनिवार्य है !" बीच मे अवकाश पाकर उसने कहा। युवती मोड पर किंचित् सतर्क होकर पुनः निश्चिन्त हो जाती है—"तुम्हारा मतलब है इस गति से ! बिना तेज़ी के प्रगति का कोई अर्थ हो सकता है ?" वह अन्यमनस्क है—"हाँ तेज़ी ही, बिना इसके तुम्हारा नही चलेगा ?" वह भी तटस्थ है—"मेरी या किसी एक व्यक्ति की बात छोडो, आँख बन्द कर सब कुछ चल सकता है।" उसन बात को स्पष्ट करते हुए कह दिया—"सुनीति, तुम्हारा मतलब है जैसे मेरा चल रहा है।" उसने अस्वीकार नही किया, "हाँ, यह भी ठीक है।"

युवती ने घडी देखकर कहा—"स्वरूप, तुम्हे कुछ काम है ?" इस प्रश्न को बिना समझे उसने कह दिया—"तुम्हारी इस नगरी मे मैं सचमुच बेकाम लगता हूँ। यहाँ की गति, हलचल, कामकाज, उत्सव, आयोजन, व्यस्तता, होटेल, रेस्तराँ, पार्टी, डास, कला और साहित्य किसी ऐसी यान्त्रिक प्रक्रिया से मिल-जुल गए है। यह सब मात्र कोलाहल

ऐसा आतङ्ककारी है कि इसके सामने मै स्वय निष्प्रयोजन लगने लगता हूँ।· · पर तुम क्या कह रही थी, यह सन्ध्या मेरी खाली है।" उसने सहज ही उत्तर दिया—"माफ करना स्वरूप, सात बजे से मुझे एक पार्टी मे शरीक होना है। लेकिन अभी एक घण्टा मै तुम्हारे साथ रह सकती हूँ। ड्रेस मै कर चुकी हूँ। तुम देख रहे हो, मै तैयार हूँ और मै सीधे ही मि०···को लेकर चली जाऊँगी।"

कुछ देर दोनो चुप रहते है। मोटर खुली विस्तृत सडक पर दौड रही है, रफ्तार कुछ तेज हो गई है। युवती फिर पूछती है—"क्या सोच रहे हो ? यह सब बहुत निरर्थक लगता है। लेकिन यह तो तुम्हारी थकान है या पराजय। अपने मूल्यो से चिपके हुए लोगो को तो यह सब अनर्थ लगता है और सही लगता है। जब सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, वैष्णव भावना, प्रेम और उदारता के मूल्य इस प्रकार विघटित और अवहेलित हो रहे हो, उनके आधार पर चलने वाले को अनर्थ ही लगना चाहिए।" उसे जैसे कही से कुछ सहारा मिला हो—"पर इतना तुमको मानना होगा कि आज भी, तुम्हारे इस नगर मे भी, गाधी को याद किया जाता है।" युवती हँस देती है—"इसमे शक नही, हम गाधी को और उस युग के मूल्यो को याद करते है। पर यह भी स्पष्ट है कि ये मूल्य हमारी राजनीति के सिर्फ मोहरे है जिनको हम दाँव पर लगाना अच्छी तरह जानते है। पर जिस अर्थ मे तुम इनको ग्रहण करते हो, वह हमारे लिए बेमानी है। हम अपनी चाल को महत्त्व देते है, मोहरो को नही, और इन घिसते हुए मोहरो को हम प्रयोजनहीन हो जाने पर सहज ही फेक भी सकते है।"

वह मौन है, उसके लिए यह दुरूह है, समझ पाना कठिन है। इस प्रकार की तटस्थता के साथ इन मूल्यो पर राय दी जा सकती है, यह देख कर वह चकित होना चाहता है, लेकिन इसके लिए गुजाइश जैसे है ही नही। युवती अपनी कार की गति की आगे फैली हुई सीमा का जिस प्रकार ग्रहण कर रही है, उसी प्रकार पास की उसकी उपस्थिति

को भी। उसके लिए दोनो स्थितियो मे अन्तर नही है। यही असंसक्ति स्वरूप के सारे भावो और समस्त संवेदनाओ को व्यजित होने के पहले ही कुठित कर रही है। सुनीति एक दृष्टि उस पर डालती है—"तुमको यह सब पीडा पहुंचाता है!" वह तुरन्त उत्तर देता है—"पीडा ही तो नही दे पाता।"

वह व्हील पर किंचित् झुक कर उसकी ओर देखती है—"समझती हूँ। तुमको समझना मेरे लिए कठिन नही है। अलग होकर भी मैं उस युग से नितान्त असम्बद्ध नही हूँ। तुम्हारा युग पीडा को लेकर जी सकता था, लेकिन आज वह भी निरर्थक है।" उसने दृष्टि मिलाते हुए प्रश्न किया—"इस सम्बद्धता के साथ भी तुम इतनी तटस्थ होकर कह सकती हो? मूल्यो की उस पृष्ठभूमि के बाद " वह लगभग बीच मे कह उठती है—"तुम्हारा मतलब है कि इतनी विस्तृत और व्यापक मूल्यो की निरर्थकता को झेल पाना क्या आसान है? पर कभी तुमने इन मूल्यो के बारे मे सोचा है?"

उसे आश्चर्य है—"सोचा है! तुम पूछोगी?" वह स्पष्ट करने के भाव से कहती है—"नही, तब की बात नही कहती, अब आज।" वह निःस्पृहता से उत्तर दे देता है—"क्या तुम्हारी इस राजधानी मे यह सोचने का अवसर है? यह गति जिसे तुम प्रगति कहते हो···!" कार अधिक भीड-भाड के बीच से आगे बढ रही है, युवती की दृष्टि सामने है, पर बातचीत के सूत्र को ग्रहण करने मे उसे प्रयत्न नही करना पडता—"अब आज ही तो स्पष्ट हो रहा है कि उन दिनो भी वे मूल्य हमारे लिए सिक्को से अधिक मूल्यवान् नही थे। यह अलग बात है कि तब ये चलते थे।"

बाहर की जगमगाहट दृष्टि-पथ पर आ जाती है, पर उसे जैसे अपना उत्तर सहज ही मिल गया हो—"लेकिन सिक्को मे मूल्य होता है और चलना इसका प्रमाण है, नही है?" उसी प्रकार वह भी उत्तर दे देती है—"हाँ, मानती हूँ, सिक्को के मूल्य को स्वीकार कर लेती हूँ।

पर सिक्को का मूल्य आरोपित है, वास्तविक नही। वास्तविकता तथा मौलिकता का प्रश्न तुम्हारे लिए ही अधिक सगत है। इनके बिना मूल्य को तुम मान सकोगे ?"—"और तुम क्या सोचती हो ?"—"मै ; मेरी बात छोडो। मैं जिस स्थिति मे हूँ उसमे मूल्यो के सारे सन्दर्भ निरर्थक हो चुके है।"

एकाएक उसने घडी देखी और कहा—"स्वरूप, अब मेरा समय हो रहा है। मि०·· मेरा इन्तजार करेगे। तुम सोचोगे कि इतने दिनो पर भेट हुई है और मैं तुम्हारे लिए अपना एक कार्यक्रम छोड नही सकती। मेरे लिए छोड़ने और न छोडने के बीच कोई अन्तर नही है। वादा जरूर है, मि०·· को खेद होगा, दिक्कत भी हो सकती है। लेकिन मुख्य बात है कि तुम्हारी दृष्टि मे इस सबकी सार्थकता क्या है ?" उसने शिथिल भाव से कहा—"मान लिया जाय कि मेरे लिए है भी, पर यह छोडना तुम्हारे लिए कितना सार्थक होगा ?" वह कार मोड चुकी है, हँस पडती है—"तुमने देख लिया है, मेरे लिए अर्थ और अनर्थ कुछ भी नही है, इसीलिए जो है उसे छोड पाना सम्भव नही है।"

"···तुम फिर चुप हो। यह तुममे पहले नही था। तुम कुछ पाना चाहते हो, तुम्हारे सामने कुछ निश्चित है और इसीलिए तुम वर्तमान को छोड सकते हो। पद, अधिकार, पार्टी सब कुछ तुम्हारे लिए उसी को लेकर है। तुम इसके लिए नयी पार्टी बना सकते हो, विरोधी स्वर उठा सकते हो, सबका विरोध सह कर भी अपनी बात पर अड सकते हो। और इस सबसे भी थक कर दलहीन राजनीति की कल्पना लेकर चल सकते हो; पर···" एकाग्रता भग हो जाने पर जैसे कह उठा हो—"पर···नही सुनीति, सब कुछ होने पर भी टकरा ही रहा हूँ, और यह तुम्हारे सामने भी साफ है। यही अवशता मुझे बार-बार चुप कर देती है, जो तुम कह रही थी।" वह बात पर हलका बल देती है—"लेकिन यह टकराना अपने-आप मे कुछ नही है ? यह भी है, यह नही माना जा सकता ?"

गाडी रुक जाती है, फिर एकाएक युवती पूछती है—"लेकिन स्वरूप, तुम यहाँ आज ही आये हो, तुम्हारी रहने की व्यवस्था क्या है ? हाँ, समझ रही हूँ । सदा की तरह कहोगे—जल्दी क्या है, कहीं हो ही जायगी । इतना साफ है कि तुम बिना सूचना के अकेले आये हो । अच्छा ठीक है, जब मैं हूँ तो सदा की तरह निश्चय भी मैं ही करूँगी । तुम मेरे साथ होटल मे ठहरोगे, मुझे कुछ विलम्ब जरूर होगा, पर तुमको पहुँचा कर जाऊँगी । मि०···की फिक्र न करो, मैं समझती हूँ । हाँ, यह होटल रुचिकर नही होगा, पर वह सब मेरा है । मेरे साथ इतना भी न सहा तो क्या हुआ ?"

कार बहुत तेज दौड रही है, करीब पचास की रफ्तार से । पर उसके सधे हाथो मे ह्वील बहुत सहज लग रहा है । वह एकाग्र है, उसके ध्यान-केन्द्र मे कुछ और आ चुका है । वह यत्र की भाँति सही और दक्ष लग रही है । होटल के सामने गाडी रुकी, उसका दरवाज़ा खुला और निश्चय के साथ वह उतर पडती है । उसके पीछे-पीछे वह कमरे तक पहुँच जाता है । वह फोन पर मैनेजर से बात करती है और उसके बाद जाने-जाने की चेष्टा मे कह देती है—"सब ठीक है, तुमको रात का भोजन यही मिल सकेगा, किसी अन्य बात की जरूरत हो तो फोन पर आर्डर दे देना ।" जाते-जाते वह मुडकर पुनः कह देती है—"हाँ, एक बात तो कहनी रह गई । रात को मै आज शायद न भी आ सकूं, मेरा कार्यक्रम है । वैसे मैं लौटने का सकल्प लेकर जा रही हूँ । नही-नही, तुम्हारे सकोच की बात नही । यह अपने लिए चाहती हूँ । सार्थक ढूढना तुम्हारा सवाल है, मैं टकराने को भी स्थिति मान लेती हूँ ।"

वह अपनी शीघ्रता मे इतनी निश्चित और सयत है, कि वह बहुत कुछ न समझ कर भी कह नही पाता । कमरे के सारे वातावरण मे वह अनिश्चित और शिथिल-सा बैठा रह जाता है और वह जा चुकी है । सब मिला कर वह कुछ भी समझ पाने मे असमर्थ है ।

खाना उसने ऐसे ही खा लिया है। फिर मेज पर कुछ देर लिखता रहता है। आज कुछ भी कर नही सका है, कल काम पूरा करके यहाँ से जा सके तो अच्छा है। लिखना चाहा था कि यहाँ उसके कार्य की योजना किस प्रकार चल सकेगी, पर लिख रहा है कि वह कितनी विशाल चट्टान से टकरा रहा है। वह अपने से पूछना चाहता है कि यह टकराना भी क्या कुछ नही है ! नही है तो यह भी निरर्थक है। सर्व-ग्रासी इस मूल्यहीन स्थिति से क्या बचा जा सकता है ! पदवृद्धि, उन्नति, प्रतिद्वन्द्विता, अर्थ, वैभव और शक्ति के लिए मूल्यो का यह उपयोग, खुला और मुक्त ! लेकिन यह भी कितना तेज, तीखा और उन्मादक है ! इसका भी पक्ष लिया जा सकता है, इसको भी अनुभव माना जा सकता है। फिर क्यो नही इसे ही सार्थकता माना जाय !

वह चौक पडता है। वह क्या लिखता जा रहा है ! कौन प्रेरित कर रहा है उसे ! सुनीति ! यह हमारा आज का जीवन, युग ! पर यह खोखली, नग्न, उच्छृङ्खल, उन्मत्त और असुन्दर निरर्थकता और युग के सार्थक मूल्यो की प्रतीति ! उसे लगता है वह भारी विभ्रम मे फँस गया है। आँखे बन्द किये आरामकुर्सी पर लेटा है, सोचने का उपक्रम कर रहा है—'यह होने की स्थिति अस्वीकारी नही जा सकती, पर होना किस लिए ! अपने-आप मे होना सब कुछ कैसे होगा ! किसी को लेकर, किसी उद्देश्य को लेकर ही उसकी दिशा निर्धारित की जा सकेगी। पर इसे पुरानी बात कह कर टाल दिया जाता है। दिशा, उद्देश्य, अर्थ आज पुरानी माँगे है। प्रस्तुत युग वर्तमान को मानता है, अतः उसके लिए उन माँगो पर आधारित मूल्य व्यर्थ हो चुके है। हम उद्योग, यत्र, प्राविधि, विज्ञान, अर्थ की बहुमुखी उन्नति और प्रगति के आधार पर क्या केवल क्षणवादी प्रवाहशील समाज का निर्माण करना चाहते है।'

दस बज चुके है। सोना चाहिए। नीद नही आ रही है। इस कमरे

का और उसका जिसका यह कमरा अग है और उसका भी जिसका यह सारा अश है, वातावरण उसके स्नायुओ को उत्तेजित कर रहा है। अच्छा होता, वह सुनीति से मना कर देता। यहाँ के अपने काम मे वह आज से लग सकता था—पर इस कमरे से अलग नही हुआ जा सकता; उससे जिसका यह अग है, आँख मीची जा सकती है, पर मुक्त नही हुआ जा सकता। आँख बन्द करने पर भी टकराहट का एहसास नही जा सकता, जब तक कि सवेदन की शक्ति ही कुठित न हो जाय। पर··· पर यह भी है कि इस व्यापक अपार निरर्थकता के बीच आदमी की मूल्यो की प्रतीति का सवेदन विजडित हो चुका है।'

ग्यारह बज चुके है। सुनीति नही आ सकेगी, काट पाना उसके लिए भी आसान नही है। वह उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। करनी चाहिए, काफी दिनो पर भेट हुई है। पर इसका क्या होगा। वे कितने अलग कट चुके है। सोना चाहिए, पर क्या हो पायेगा। सोचना नही चाहता, रास्ता नही मिलता और उलझन बढती जाती है। पुस्तके उलटता-पलटता रहता है। बारह भी बज चुके है। सुनीति नही आ सकी, वह प्रतीक्षा नही कर रहा है।

बाहर से दरवाज़ा खुलता है, आवाजे आ रही है। "· धन्यवाद, तुमको आज काफी कष्ट दे चुकी हूँ।" "·· नही नही, यह कोई बात नही है। मेरा तो प्रस्ताव था, खैर आज आप बहुत थकी है। बाहर जाने मे मुझे कुछ दिन लगेगे, आशा करता हूँ इस बीच अवसर दे सकेगी।"—"बहुत कृतज्ञ हूँ। मि०···को आकस्मिक काम लग गया और आपको मुझे पहुचाना पडा। हम अवसर तो निकालेगे ही।" अन्दर आकर उसने दरवाजा बन्द कर लिया। वह मुडती है और दृष्टि उसके मुख पर पडती है। उत्तेजना से मुख चमक रहा है—"अच्छा, तो तुम अभी जग रहे हो!" फिर आकर वह सामने की आरामकुर्सी पर फैल जाती है।

वह देखता रहता है, खोजता रहता है। जानना चाहता है—सुनीति

की उत्तेजना कैसी है। अत्यन्त तीखी सन्ध्या बिताने के बाद वह कैसा अनुभव कर रही है। वह शिथिल है, क्लान्त है, पर उसका उल्लास, उसकी मुक्ति कहाँ है! क्या वह विवश और निरुपाय नही लग रही है! युवती ने तभी शिथिल भाव से प्रश्न किया—"तुम प्रतीक्षा तो नही कर रहे थे?" प्रश्न उसे आकस्मिक लगा—"कह सकता हूँ, कर रहा था।" दृष्टि को उठा कर उसने पुनः पूछा—"और सोच रहे थे · ·।" "क्या?"—"यही कि इस सब मे अर्थ क्या है?" उसने हाथ की पुस्तक मेज पर रखते हुए स्वीकार किया—"बहुत दिनो पर हम मिले है। तुमने कहा था, प्रतीक्षा स्वाभाविक थी। पर यह भी है कि इससे क्या! हमारे बीच का व्यवधान बहुत विस्तृत है।"

वह सजग होकर बैठ जाती है—"यह व्यवधानहीन क्षण है स्वरूप! यह कभी था या नही था, दोनो ही मै नही मानती। जो था या है, वह तुम्हारी कल्पना है जो हर यथार्थ क्षण को झुठलाने के लिए कृतसकल्प है। कभी मै इस झुठलाने मे तुम्हारे साथ रही हूँ और तब तुमको व्यवधान न लगा हो, पर आज लगता है यह झुठलाना ही सदा हमारा व्यवधान है, अन्यथा क्षण बाधाहीन मुक्त होता है।" कुर्सी की बाँहो पर हाथ फैलाये उसकी ओर देखता हुआ बैठा रहता है। वह चुप है, उसके पास दूसरा कोई उत्तर नही है। युवती आँखो मे उत्तर की प्रतीक्षा लिये चुप है। दोनो चुप है। फिर एकाएक उठ कर कपडे बदलने चली जाती है।

वह बहुत हल्की स्लीपिंग ड्रेस पहने पलग पर लेटी हुई है और वह आरामकुर्सी पर है। दोनो एक-दूसरे की ओर उन्मुख है। युवती अलस भाव से कहती है—"शायद तुम्हारा ठीक प्रबन्ध मैं नही कर सकी।" वह बात सँभालने के भाव से कहता है—"इतना समय भी कहाँ था, फिर वापस आने की बात शायद नही थी।" वह करवट मे हाथ पर सिर रख कर कह रही है—"सब था और निश्चित भी, केवल तब मैंने इस स्थिति का अन्दाज नही किया था।" वह न समझ पाने

की स्थिति मे प्रश्न करता है—"क्या ? किस बात का ?" उसकी दृष्टि को ग्रहण करते हुए वह कह देती है—"यही कि तुमको आरामकुर्सी पर सोना होगा।" वह आरामकुर्सी पर अपनी स्थिति को देखता है, उसे पहली बार जैसे स्थिति का एहसास होता है—"यह ऐसा कुछ भी नही है। मै अभ्यस्त हूँ, ऐसा क्या तुम्हारे साथ पहले घटित नही हुआ है ?"

पहली बार वह मथित लगती है। हाथ पर किंचित् झुककर हल्के आवेश के साथ कहती है—"वह सारा घटित तुम्हारे मूल्यो के समान ही जड और निःस्पन्द है। मैं कह चुकी हूँ कि तब यह जितना आसान था, अब मेरे लिए ऐसा नही है। सोचती हूँ यह प्रबन्ध तुम्हारे लिए नही, मेरे अपने लिए जरूरी था।" बात के साथ आवेश का हल्का भाव उतर चुका है, वह पुनः सहज शिथिल है। वह प्रकृतिस्थ है—"लेकिन कितना आसान था, मुझ से मिलती नही, निश्चित स्थान पर उतार देती या फिर अपना कार्यक्रम स्थगित न करती।" वह तकिया के सहारे लेट जाती है—"कुछ भी हो सकता था, लेकिन प्रत्येक स्थिति पर इतना अधिकार मान कर तुम ही चल सकते हो। आये क्षण को स्थगित कर पाना तुम्हारे मूल्यो के आधार पर हो सकता है। कभी तुम्हारे साथ यह भी किया है, लेकिन अब मेरे लिए आसान नही है।"

" मेरे लिए आज भी यह कह पाना कठिन है कि बिना स्थगित किये कुछ भी पाना सम्भव है। निरर्थक भटकाव की स्थिति अलग है।" " · लेकिन यह भटकाव तुम्हारे टकराने से कहाँ भिन्न है ?" वह चुप है, सोच-सा रहा है। प्रतीक्षा करने के बाद पुनः प्रश्न दुहराया जाता है—"क्यो चुप हो ?" "··· सोचता हूँ ज्यादा अन्तर नही है। लेकिन यह तो है ही, एक ने स्वीकार कर लिया है और दूसरे ने स्वीकार नही किया है।" " लेकिन वह क्या है जो स्वीकार नही किया गया या स्वीकारा गया ? स्वीकारने मे पुनः मूल्यो को स्थापित करके चलने का सवाल है, उन्ही मूल्यो के सन्दर्भ मे यह अस्वीकारना भी है।"—"पर स्थिति को स्वीकार कर लेना · ।"

चत् झुक कर अपनी बात पर बल देना चाहती है—"हाँ, कि यह स्थिति को मूल्य मान लेना है। पर जड मूल्यो की अपेक्षा—" कुछ सीधे होकर बैठते हुए उसने उत्तर दिया—"और यह निरर्थक मूल्य की प्रतीति ।" वह चुप होकर जिज्ञासा के भाव से उसकी ओर देखती है, फिर धीरे-धीरे कहती है—'यह इस युग की प्रतीति है और उसके अन्तर्गत तुम्हारे सारे स्थापित मूल्य भी है।" उसी प्रकार धीरे-धीरे वह उत्तर देता है—"तुम्हारा मतलब है कि आज सत्य, अहिंसा, प्रेम जैसे मानवीय मूल्य केवल निरर्थकता के प्रतीक है ?" वह उत्सुक है—"नही है ? तुम क्या देखते हो ?"

दोनो चुप है। एक-दूसरे को देखते है और समझने की कोशिश करते है। पलग पर हल्के वस्त्र के नीचे उसका सारा शरीर है, उसकी रेखाएँ और उतार-चढाव है। दोनो एक-दूसरे को सम्पूर्णतः देखते है, मुख की रेखाएँ पार करते है और उनकी दृष्टि एक है। दोनो चुप है मौन। फिर वह व्यग्र उत्सुकता से पूछता है—"लेकिन मै कहाँ हूँ, मेरी स्थिति ··।" वह भावहीन प्रकृतिस्थ है—"तुमने ही कहा है—टकरा रहा हूँ—मै कहती हूँ यह टकराना भी है। इसे मानना पडेगा।" वह हल्की उत्तेजना मे है—"तुम सब कुछ मान लोगी, स्वीकार लोगी ?" उसी तरह वह तटस्थ है—"मानने की बेचैनी मुझे नही है, इसीलिए स्वीकारना मेरे सन्दर्भ मे सगत नही है।" वह उद्विग्न है—"मेरे लिए तुम्हे समझ पाना आसान नही है।" अपने फैले सारे शरीर के साथ वह मुस्करा देती है—"लेकिन मै मानती हूँ यह टकराहट ही तुमको मेरी स्थिति समझा सकेगी। मुझ मे क्या कुछ समझने जैसा है भी ? मै तो हूँ···मेरी स्थिति मात्र है !"

वह कुछ देर के लिए सो गया था। यात्रा की थकान थी। सुबह की तरह खाने के कमरे मे जाकर उसने चाय पी ली है। इस बार भी

सामने की कुर्सी पर कोई उसका साथ देता रहा है और तीसरा भी है जो दोनो को 'सर्व' करता रहा है। फिर लगता है उसे घूमने जाना है, कुछ देर इसी भाव से वह बाहर के लॉन पर टहलता भी है। वह प्रतीक्षा मे है कि किसी को साथ लेना है। लग रहा है कि देर हो रही है, देर की जा रही है। याद आती है, यह उसे पसद नही है। पर होता ऐसा ही अक्सर है।

वह नीचे की ओर उतर रहा है, किसी के साथ होने का उसे आभास है। वह बात नही करेगा, चाहता भी नही है। अभी चाय पर वह देर तक बहस मे लगा रहा है। थका ही नही, खीझ भी गया है। लगता है कि उनके बीच कोई समान धरातल नही है, सोचने की पद्धति और मूल्यो की दृष्टि मे आधारभूत अन्तर है। ऐसी बहस मे कहाँ पहुँचा जा सकता है, लाभ क्या है! वह चुप उतरता जा रहा है, मुडकर नीचे की बस्ती के समीप आ गया है। उसने जान-बूझ कर बस्ती के बीच का रास्ता अपनाया है। लेकिन सब कुछ अपरिचित है, बस्ती, घर और लोग! बस्ती कुछ पक्की हो चली है, लकडी और टीन के प्रयोग मे व्यवस्था आ रही है। बाहर कूडा और गन्दगी बढ रही है। लोगो की—स्त्री और पुरुषो की दृष्टि मे समान रूप से—अपरिचय ही नही, घृणा और विद्वेष भी है। पर उसके लिए यह सब कुछ नितान्त अपरिचित ही है।

वह कुछ कहना चाहता है, पर समझ नही पाता, क्या कहना है। और यह भी कि किससे कहना है। वह समझ रहा है कि उसके साथ कोई चल रहा है। वह गली पार कर रहा है, यहाँ सघनता अधिक बढ गई है, वस्तु और जिन्दगी की। वह दवाव का अनुभव करता है, और रिक्त भाव से देखता है कि लोग अपने-आप मे व्यस्त उसकी ओर से तटस्थ है। उसके अपरिचय और उनकी तटस्थता मे जैसे एक सगति हो और बिना टकराये दोनो स्थितियाँ बस है! गली से मुड कर वह मुख्य सडक पर आ जाता है। यह कस्बे का बाजार है। बिखर कर सारी सडक

पर फैल गया है और इसी अनुपात से हलचल और कोलाहल बढ गया है। आवाजाही, कामकाज, व्यस्तता, भीड, खरीद-फरोख्त, व्यवसाय, मजदूर, व्यवसायी, कारीगर और कर्मचारी··· सभी कुछ चारो ओर है। उसके बीच से वह आगे बढता जा रहा है, वह सब अपने-आप मे घटित हो रहा है और स्वय मे वह अकेला है। दो अलग स्थितियाँ है, दो अलग अनिर्भर अस्तित्व है।

आगे बढ रहा है, साथ चलने वाला भी है। वही है जो उसके अनुभव का अग है, शेष सब उससे अलग असम्पृक्त है। वह कुछ कहने के लिए उत्सुक है, साथ के व्यक्ति से बात करना चाहेगा। उसी से अनुभव के स्तर की समानता है। वह अकेलेपन से ऊब गया है और थकता जा रहा है। यही शिथिलता उसे उत्साहहीन कर रही है। उसका अपरिचय एक स्तर पर इस अपने से भी उसे तटस्थ करता है। लोग खोचो के पास जमा है, बाजीगर को घेरे खडे है, पहाडी बूटियाँ बेचने वाले पर झुके हुए है। पर किसी को उसका एहसास नही है, वह जैसे उन सबके लिए अस्तित्वहीन है। और वह भी इस को एक तटस्थ घटना से अधिक ग्रहण नही कर पाता।

एक रेस्तराँ मे वह बैठा है। और सामने की खाली कुर्सी पर वह भी है जो उसके साथ चलता रहा है। रेस्तराँ मे हरएक मेज़ पर बातचीत इतनी तेजी से चल रही है कि केवल ध्वनियो की गूँज उठ कर एक-दूसरे से टकरा जाती है। टकराहट से उत्पन्न अनुगूज से सारा वातावरण भनभना रहा है। ध्वनियो की इस अर्थहीन झनझनाहट मे हर मेज की बातचीत अपने-आप मे सुरक्षित है। वह स्वय इसके बीच मे अपना वृत्त बनाकर स्थित है ' अपने मे तटस्थ और असम्पृक्त। एक बूढा बेयरा सामने आकर खडा हो जाता है। उसके मुख की भगिमा मे आमन्त्रण है, लेकिन यह परिचय अत्यन्त सामान्य है, इतना कि अपरिचय से भी घना।

वह चाय पी रहा है, सामने की खाली कुर्सी वाला व्यक्ति भी

उसका साथ दे रहा है। सोचता है, अब बात की जा सकती है। चाय पर बात करना ऐसा कठिन नही होता। न सिद्धान्तो पर अडना ही आवश्यक है, और न यही कि गम्भीर रहा जाय। इतने समय से अपने-आप से घिरा हुआ है कि अपने को खोल कर मुक्ति का अनुभव करना चाहता है। कभी यह चाय पीना, चायघर का वातावरण और साथ के व्यक्ति की चर्चा उसे अपने आपको पूर्णतः भुला देती थी। पर आज वह सब के लिए अपरिचित है, और स्वय अपने लिए भी अपरिचित ही है।

ध्वनियो की तुमुल झनझनाहट के बीच वह सुनता है, कोई कह रहा है—"चलता है।" दूसरा स्वर है—"फिर भी' '।" "हटाओ भी, देखते नही सब चलता है।" "···वह सब, तुम क्या समझते हो ?"—"कहने को है, लोग बना सँवार कर कहते है।" "···फिर बडी बातें खाली कहने की है।" "· मै कहता हूँ ! तुम क्या सुनते हो ? यह सब क्या कुछ दूसरा है ?" "···आखिर देश है और ··।" "· वह भी है, क्यो नही है। बढ रहा है, लेकिन इस बढने मे उन बातो का सम्बन्ध नही है। ऐसा ही है।" " ·· इसे बढना मानोगे ? सभी तरह की परेशानियाँ और उलझने···।" "··· तुम समझते नही हो, यह बढने की निशानी है। महत्त्व तथा सम्पन्नता के साथ यह विषमता बढेगी।"

वह कहना चाहता है, वार्तालाप मे भाग लेना चाहता है, पर ये ध्वनियाँ उससे असम्बद्ध है। अपने साथी से वह बात उठा सकता है। पर खाली कुर्सी का साथी मौन है, आज एकदम मौन है। लगता है दोनो के बीच ऐसा अन्तर आ गया है कि अब एक स्तर पर सोचना-समझना सम्भव नही है। ऐसा पहले कभी नही हुआ, मतभेद होने पर भी, सिद्धान्तों का गहरा अन्तर होने पर भी ऐसी दूरी का अनुभव उसने कभी नही किया था। लगता था, उनके बीच मूल्यो के स्रोत का अन्तर न होकर, उनके सम्बन्ध मे मात्र दृष्टि का अन्तर है। अब आज दोनो एक हो गए है, पर और मूल्य दृष्टि खो गए है।

वह पुनः कुछ ध्वनियो को पकड पाता है। "· इन बातो को कौन सुनता है ?" "···लेकिन कहने वालो की कमी नही है।" "···यही तो है ! कहते है, लेकिन लोग सुनते भी नही, करना तो दूर रहा है।" "· कहना, सुनना और करना—तीन स्वतत्र बाते है। जब हम स्वाधीन है, तब और भी आवश्यक है।" "·· मान लिया कि ये स्वाधीन है, अलग है, पर अच्छाई तीनो मे बरती जा सकती है।" "···यह कैसे कहते हो कि यह नही बरती जाती ?" "·· तुम कह चुके हो कि जो कहा जाता है वह न सुना जाता है और न किया ।" "· पर इसमे तुम मान कर चलते हो कि तीनो की अच्छाई एक ही होती है।" "··· नही मानते ?" "· सवाल ही नही उठता—कहने से एक बात अच्छी लग सकती है, सुनने मे बिल्कुल अलग बात और करने मे तीसरी बात।" "··· यह घपला है।" " साफ-सुथरी बात है, खाली तुम नयी बात समझते नही हो और न कोशिश ही करते हो।"

यह शैली, यह ढग और यह कथ्य उसके लिए नितान्त अपरिचित है। पर वह आकर्षित होता है। उसे अनुभव होता है कि यहाँ ऐसी बातें पहले कभी नही हुई है। साधारण गपशप और खानपान की चर्चा से लेकर राजनीतिक और सामाजिक आदर्शों तथा क्रान्तियो तक की चर्चा यहाँ वह समझ सकता है, पर जीवन को समझने और अपने युग को व्यक्त करने का यह बिल्कुल नया स्तर है। अपने साथी से इस प्रसग को चलाना चाहता है, लेकिन वह जैसे इन ध्वनियो मे खो गया है। सामने होने पर भी उसको पाना इन ध्वनियो को अलग-अलग करके समझ पाने के समान कठिन है।

कोशिश करने पर वह एक मेज के ध्वनि-समूह का अनुसरण कर पाता है। "· सह-अस्तित्व हमारा नया मूल्य है !" "··· पर यह है क्या ?" "····यह भी खूब है। सीधी बात नही समझते—सब का साथ रहना या होना।" "·· अर्थात् बुरा-भला सब एक साथ मान लिया जाय ?" "··· मानने न मानने का सवाल कहाँ उठता है ! न यह है और

न वह होगा।" "·· जब दोनो ही नही है, तो साथ रहने का क्या मत-लब ? फिर यह ऐसा होगा कैसे ?" " · यह दृष्टि की बात है, मूल प्रश्न तो हमारी दृष्टि का होता भी है, हम कैसे वस्तुओ को ग्रहण करते है ?" "फिर दृष्टि को ग्रहण करते ही सर्वत्र शाति स्थापित हो जायगी।" " · हो जाने का प्रश्न सगत नही है, मुख्य बात हमारी घोषणा की है।" "यानी यह हमारी घोषणा है ?" " ऐसा ही।" " फिर हम शाति से रहेगे !" " · रहने का सवाल नही है, हम केवल योजनाबद्ध रूप से शाति का उद्घोष करेगे।" " मतलब वही है, जैसे भी कहा जाय।" " · तुमको ठीक बात समझाना काफी मुश्किल है, शब्दो के और कथनो के ठीक सदर्भ तुम ग्रहण नही कर पाते।" "·· तुम्हारा कहना है कि दोनो मे अन्तर है !" " बिल्कुल, एकदम ! रहना एक बात है और घोषणा अलग बात।"

"और यह पचशील भी है।" " · हाँ है। कैसे पिछडे व्यक्ति हो तुम ! युग की मर्यादा से भी परिचित नही।" "···मर्यादा ! क्या मतलब ?" " वाह, खूब ! मर्यादा का मतलब पूछोगे ?" "···लेकिन ये कौन-सी मर्यादाएँ है ?" "···तुम तो वेद-शास्त्र की मर्यादाओ के आगे कभी बढोगे नही। सुनो, पहली मर्यादा अर्थात् शील है···कि बात कहने के लिए होती है, वादा करने के लिए होता है, और वचन दिया जाता है।" "· ·यह भी कोई बात है, इसमे क्या है ?" "···दूसरी मर्यादा या शील है कि दृष्टि अपने स्वार्थ पर होनी चाहिए।" "···यह तो आज के व्यवहार की बात है।" "···और शील क्या जीवन से भिन्न वस्तु है ? तीसरा है कि कथनी और करनी मे मौलिक अन्तर होना चाहिए; अर्थात् करनी मे अपना हित निहित होना अनिवार्य ही है।" " ··तो फिर चौथा यह होगा कि घोषणा शाति की हो और आयोजन युद्ध का हो और पाँचवाँ होगा कि···।" "···तुमने ठीक ग्रहण कर लिया है। आज की नवीनतम पद्धति यही है।"

वह अपनी मेज पर बैठा है, इन ध्वनियो की सगति बैठती है,

लेकिन उनका अर्थ अस्पष्ट है। उसके लिए कुछ भी ग्रहण कर पाना सरल नही है। ध्वनियो के सभी वृत्त पुनः टकराने लगते है और उन्हीं के साथ वह भी खो जाता है।

उसके काका छोटे ठाकुर कमरे मे टहल रहे है। उनका मन उद्विग्न है, कही गहराई मे चिन्तित है, ऊपर से क्रुद्ध लग रहे है। वह कुर्सी पर बैठा है काका के सामने सकुचित होना उसके लिए स्वाभाविक है। काका अपने आवेश में भी एकाग्र है—"स्वरूप, तुम हमको समझ नही सकते, पर मै तुम लोगो को ठीक जानता पहचानता हूँ। तुम्हारे लिए काका बस जमीदार है, पर मेरे लिए तुम केवल देशसेवक या उद्धारक नही हो। तुम जमीदार के रूप मे आदमी को शराबी, व्यभिचारी और अत्याचारी देख पाने के अभ्यस्त हो। यह अधूरी, विकृत और अतिरजित दृष्टि है, इसीलिए गलत भी। हमको नही, अपने-आप को भी तुम अधूरा देख पाते हो। तुम्हारे नेताओ की दृष्टि अधूरी है। वे देश की स्वाधीनता चाहते है। पर मैं पूछता हूँ यह स्वाधीनता है क्या ? तुमने कभी सोचा है ? तुम्हारे गुरु इसका क्या अर्थ समझते है ? बता सकते हो, बताओ न !"

काका की बात का उत्तर देना आसान नही है, विशेपकर जब वह कहते है, तब सुनते ही किसकी है ! स्वाधीनता के विषय मे इतनी बडी चुनौती सह लेना उसे कायरता लग रहा था, पर काका आगे कहते जा रहे है—"तुम क्या बताओगे, और तुम्हारे बडो को भी जब मालूम हो। कही से सुन लिया है और गाने लगे है। कुछ अपने-आप भी सोचा होता। हम स्वाधीनता चाहते है, पूर्ण स्वराज ! पूछो क्या होगा इस राज मे ' नीच-ऊँच नही रहेगे, अमीर-गरीब नही रहेगे, सब सच बोलेंगे, अहिंसा बरतेगे, कही अकाल नही पडेगा, लोग भूखो नही मरेगे मतलब यह कि आप लोग सतयुग लाना चाहते है। जरूर लाये;

पर साहबजादे, यह भी समझ लीजिये यह सतयुग-त्रेता की बाते पुराणो की कल्पना है, आदर्श है और ठीक जिन्दगी मे उतारना इनका न कभी सम्भव हुआ है, न होगा ।"

फिर वे टहलते रहते है और वह चुपचाप बैठा है। ऐसा नही, तर्क उसके पास नही है , पर काका तर्क मानते कब है ! वे जिस वर्ग के है, उसमे बडे-छोटे के क्रम से आज्ञा और आदेश के अनुसार काम चलता है, चलता आया है । ऐसा नही कि उनका अपना ज्ञान या अनुभव का क्षेत्र न हो, पर वहाँ कुछ भी तर्क से सिद्ध नही किया जाता । जो जहाँ से स्वीकृत है, उसे वहाँ मान कर चलना होगा । यही काका अपने पिता के सामने पडने से बचते थे, और आँख उठाकर देखने का साहस नही करते थे । बडे भाई की बात उनके लिए ब्रह्मलीक थी, जिसका उल्लघन असम्भव ही था । काका के लिए बात सही या गलत है, यह अर्थ नही रखता, उन्होने कहा है तो बस है—सुनने वाले को उसे स्वीकार करना होगा, उसका तुरन्त पालन करना होगा ।

इस बीच वृद्ध दीवान ने कमरे मे प्रवेश किया, उनके मुख पर चिन्ता और गम्भीरता, नीति-कुशलता और कुटिलता, गरिमा और तुच्छता को अलग-अलग पढ पाना आसान नही है । काका दीवान के सामने सयत से हुए और उनकी भगिमा मे आदर-भाव व्यक्त है। दीवान ने एक ओर का आसन ग्रहण किया और प्रकृतिस्थ भाव से बैठे रहे । काका ने सहारा पाकर दीवान को सम्बोधित किया—"दीवान काका, देखते है इन लडको की करतूत ?" दीवान ने गहराई से ही कह दिया—"हाँ, देख रहा हूँ । देखना ही होगा ।" काका सामने के सोफे पर बैठ गए, पर मन की अस्थिरता पूर्ववत् बनी हुई है । उन्होने गम्भीरता से समस्या को जैसे सामने रखा—"पर फैसला भी करना है, इधर या उधर इसे समाप्त करना होगा ।" दीवान अब भी तटस्थ भाव से उत्तर देते है—"फैसला कर लिया है, वही तो···!" काका समझ रहे है, और इसीलिए उद्विग्न भी हैं—"पर दीवान काका, यह क्या ऐसा

आसान है ?" दीवान की आवाज मे स्पष्टता है—"आसान कुछ नही होता ,' बना लिया जाता है ।"

वह कमरे मे बैठा है, पर उसके वातावरण और बातचीत मे नही हैं । वह काका के साथ अब दीवान दाऊ को भी देख रहा है । जब से उसे याद है, दाऊजी को देखता आया है । सदा देखते रहने पर भी उन्हे समझ सका हो, ऐसा उसे कभी नही लगा । उनको देखता आया है और उनके बारे मे सुना भी कम नही है । पर दोनो को मिलाकर उसके मन पर उनका ऐसा व्यक्तित्व उभरता है जिससे भयभीत और आतकित ही हुआ जा सकता है । यद्यपि अपने प्रति दाऊ मे उसे सदा शासन के सयम के बीच आदर और स्नेह की झलक मिलती रही है । बचपन मे अपने दादाजी तथा दीदीजी और बडे होने पर पिता तथा माँ से जिन फरमाइशो को वह कभी पूरी नही करवा पाता, उन्हे दीवान दाऊ सहज ही पूरा कर देते थे । दीवानजी के दृष्टिकोण से जैसे उसकी किसी भी आकाक्षा, इच्छा का अतृप्त रह जाना अस्वाभाविक तथा अस्वस्थ हो । उसे ऐसा भी लगता रहा है कि दीवानजी अपने पर जितना आत्म-नियत्रण रखते रहे है, उतना ही अपने मालिको की सभी इच्छाओ को किसी न किसी प्रकार पूरा करना अपना परम धर्म भी समझते रहे है ।

इसी बीच काका ने पुन· अपना सन्देह व्यक्त किया—"लेकिन दीवान काका, यह मैं नही हूँ और न भइया ही । स्वरूप को आप जानते हो !" दीवान ने असम्पृक्त भाव मे किंचित् विचलन को समाहित रख कर उत्तर दिया—"इसे बचपन से समझता आया हूँ ; दिक्कत यही है कि बडे भइया आज नही है । लेकिन मैं फैसला कर चुका हूँ ।" दीवान की वाणी मे रुकावट क्षण-भर के लिए आयी और मिट गई । वह समझता है कि दीवानजी बडे भइया अर्थात् उसके पिता को लेकर अन्दर से व्यथित होते है । पिता की मृत्यु की घटना उसके मन मे बहुत स्पष्ट नही है ; केवल इतना आभास है कि वह असाधारण तथा अस्वा-भाविक ढग से घटित हुई थी । पर सुनने के आधार पर सूत्रो को एकत्र

करके उसे ज्ञात है कि दीवान दाऊ ने उन्हे मना किया था। उन्होने यह भी कहा था कि 'छोटे ठाकुर, तुम हो किसके पीछे, उस नाचीज़ के लिए पालनपुर के राजा से होड लेना न तो शोभा की बात है और न मतलब की ही। इधर अपनी रियासत मे जिसे चाहो, देखो। यही क्यो, सारी दुनिया सामने पडी है। यह तुम क्या कहते हो ? मेरी बात तो छोडो, मैं जो कर सकता हूँ वह भी चुनौती के उत्तर मे नही। जो करना होता है, वह मैं करता हूँ। लेकिन बडे ठाकुर, मैं कहता था कि यह मामला और पालनपुर का राजा इस सब के योग्य नही है।'

लेकिन बडे ठाकुर की जिद से दीवान को उस मामले मे पडना ही पडा। फिर सब कुछ ऐसे हो गया कि होने के पहले कानो-कान किसी को खबर नही लगी। वह तब बहुत छोटा था, उस घटना की हल्की-सी आहट है। एक पतली, तीखी, तेज़, सुन्दर युवती की याद आती है। एक बार उसने आकस्मिक रूप से उसे गोद मे उठाकर प्यार कर लिया था, और वह उसकी ममता और कोमलता का अनुभव कर सका था। इसके अतिरिक्त जो कुछ याद है वह तब भय तथा आतक का कारण था और बाद मे उसे घृणा तथा आत्मग्लानि से भरता रहा है। दृढ और सयत दीवान दाऊजी भी तब विचलित हुए थे, उनको लगा था कि यह मामला ऐसा सीधा नही है और वह युवती वैसी साधारण नही है। और पालनपुर का राजा ऐसा उपेक्षणीय भी नही है।

उस युवती से दीवानजी ने पूछा—"तुम क्या चाहती हो ?" उसने वक्र मुद्रा मे उत्तर दिया था—"तुमने सोचा क्या है ?" दीवानजी ने गम्भीर भाव से कहा—"तुमको जो भी चाहिए मिल सकता है, मिलेगा।" वह उसी प्रकार मुस्करा दी—"तुम समझते हो, मुझे क्या चाहिए ?" वैसे ही दीवानजी ने उत्तर दिया—"जो हर औरत चाहती है।" युवती ने किंचित् सीधे होकर प्रश्न किया—"औरत क्या चाहती है ?" दीवानजी इस प्रकार के उत्तर-प्रत्युत्तर मे पडने के अभ्यस्त नही है, पर युवती के सामने अपने को सयत रख कर कह देते है—"सदा जो

चाहा है, धन-सम्पत्ति, शान-शौकत, भोग-विलास··· !" युवती ने बीच मे ही किंचित् कठोरता के साथ बात काटी—"तो मै कहती हूँ दीवानजी, तुमने मालिको की इच्छाओ और वासनाओ को ढोना भले ही जाना हो, औरत की बात बिल्कुल नही जानते !" दीवान अपनी भावना मे गहरे उतर जाता है—"खैर, जरूरत पडने पर मै सीख सकता हूँ।" युवती ने व्यग से कहा—"दीवानजी, औरत आदमी चाहती है।" दीवान ने अपने को सहज रखते हुए कह दिया—"हमारे बडे ठाकुर·· !" युवती ने आवेश मे बीच मे बात काटी—"वह गीदड, कुत्ता······!" दीवान के सयम का बाँध टूट गया, उन्होने युवती के गाल पर चाँटा मारते हुए कह दिया—"और वह पालनपुर का गँवार, जगली और हब्शी आदमी !" युवती मूर्च्छित हो चुकी थी।

बस, उसी बार दीवान ने अपना सयम खोया था और फिर एक ही बार उनसे चूक हुई। इन दोनो की पराजय और ग्लानि को दीवान कभी भूले नही। उन्होने क्या कुछ नही किया है—खेत कटवा लेना, बेदखल करा देना, पिटवा देना, किसी को गायब करा देना, हत्या करा देना, आपस मे फूट डालना, हत्या करने वाले को बेदाग छुटा लेना—कभी पुलिस के हाथो से और कभी अदालत से—किसी की बहिन, लडकी या स्त्री को निकाल लेना—ऐसा कि पता ही न चले, और चले तो विवशता से कुछ किया न जा सके। पर यह सब उनके कार्यक्षेत्र मे उसी प्रकार सहज ही आ जाता है, जैसे वसूली करना, बेगार लेना, इनाम देना, सूखा-बाढ मे खाना-कपडा और बीज से मदद करना, शादी-ब्याह के अवसर पर लकडी, अनाज तथा रुपये से नियमानुसार सहायता करना, आदि रहा है। पर उनके लिए भावावेश मे कुछ कर बैठना अक्षम्य है और उस बार ऐसा ही हुआ था। फिर अपनी सतर्कता मे चूक जाना दीवान के लिए जीवन-भर की ज्वाला हो गई है।

बडे ठाकुर और पलानपुर वालो मे चल गई। हर ओर से वार हो रहे थे। पलानपुर की सम्पत्ति, मर्यादा और प्रभाव सभी अधिक है,

पर बडे ठाकुर की उदारता-जन्य लोकप्रियता और दीवान की बुद्धि सब मिला कर तुलना मे कुछ भारी ही पडती है। दीवान ने सब ओर से बन्धन ठीक कर रखा था। पर दीवान की सबसे बडी कठिनाई स्वय युवती सिद्ध हो रही थी। और वह करते भी क्या, बडे ठाकुर की आसक्ति उसके प्रति ऐसी अधी थी कि दीवान को बहुत कठिनाई से रास्ता मिल पा रहा था। पर उनमे आत्मविश्वास बना रहा। लेकिन उनसे चूक हुई ही, युवती को जितना सीधा-सरल मान कर उन्हे चलना पडा, वह वैसी सिद्ध नही हुई। किसी को ऐसा मान कर चलना उनका स्वभाव नही है; परन्तु बडे ठाकुर के कारण इतना उन्हे मानना पडा था और वही उनसे चूक हो गई।

बडे ठाकुर की हत्या ने दीवान को अन्दर से हिला दिया। उनको लगा कि जीवन की यह ऐसी पराजय है जिससे उबरा नही जा सकता। फिर उन्होने छोटे ठाकुर के साथ कटिबद्ध होकर पलानपुर वालो के विरुद्ध मोरचा लिया, फौजदारी तथा दीवानी, खुले तथा छिपे सभी उपायो का आश्रय लेकर उन्हे शिथिल और परास्त करते रहे पर बडे ठाकुर को वापस लाना कैसे हो सकता था! इसके बाद दीवान को अधिक चिन्ता नही करनी पडी; छोटे ठाकुर अपनी सारी कमज़ोरियो के बावजूद दीवान की नीति के सहज अनुवर्ती रहे है। ऐसी स्थिति मे रिआया बडे ठाकुर को याद करती रहे, पर दीवान की व्यवस्था अधिक नियोजित और सुचारु हो गई है। कभी इस व्यवस्था की छोटे ठाकुर के सम्मुख शिकायत होती, तो वह यह कह कर—'दीवान काका के सामने मै क्या कर सकता हूँ, हम सबको पाल-पोस कर उन्होने ही बडा किया है,' अपने रागरग, दावत-शिकार, विदेश-यात्राओ मे लग जाते।

यही दीवान दाऊ कह रहे है, '...आसान बना लिया जाता है।' वह इसका अर्थ, उनको जानने के आधार पर, ग्रहण कर रहा है। और काका तो उनके फैसलो पर चलने के पूर्णतः अभ्यस्त है।

पर वे दीवानजी के फैसले को जिस सीमा तक ग्रहण कर पा रहे है और बडे भइया के न होने की दिक्कत को समझ पा रहे है, उतने ही उद्विग्न और अस्थिर जान पडते है—"काका, लेकिन तुम क्या यह महसूस नही करते कि जमाना बदल गया है, और बदलता जा रहा है।" दीवान ने दृढ स्वर मे कहा—"तुम कहना चाहते हो कि अब मेरा जमाना नही रहा ··मेरे जैसे पुराने आदमी के फैसलो से अब नही चलेगा ? यही न ! लेकिन छोटे भइया, यह तुम जान लो, जिन्दगी मे एक बार ही गलती करना बहुत है, मै उसे दुहरा नही सकता। जो छूट मैंने बडे भइया को दी थी और जिसके लिए मुझे बाकी जिन्दगी अभी पछ-ताना है, उसे मैं स्वरूप को नही दे सकूँगा। कम-से-कम मैं उसे अपने भविष्य के साथ खिलवाड करने का हक नही दे सकूँगा।" जब दीवान काका इतना कुछ साफ और स्पष्ट ढग से कह जायँ, तब छोटे ठाकुर को आगे सोचने का तथा कुछ कहने का साहस नही हो रहा है, यद्यपि वे निश्चिन्त नही है, यह भी स्पष्ट है।

कुछ देर कमरे मे शाति रहती है, सब एक-दूसरे की जैसे प्रतीक्षा कर रहे हो, फिर दीवान ने गम्भीर स्वर मे स्वरूप को सम्बोधित करते हुए कहा—"तुमको क्या कहना है, स्वरूप ?" स्वरूप ने सहज ही उत्तर दिया—"मैं क्या कहूँ दाऊ, आपका फैसला ठीक ही होगा।" दीवान किंचित् विचलित है, यह उनके स्वर से व्यक्त है—"तुम्हारे लिए हमारी बात कुछ भी नही है ?" युवक ने पूर्ववत् सयम के साथ उत्तर दे दिया—"दीवान दाऊ, क्या कभी मैने तुम्हारी अवहेलना की है ?" अपने को सँभालते हुए दीवान ने पुनः कहा—"तुम्हारे खिलाफ यह आरोप कौन लगा सकेगा ? पर यहाँ सवाल दूसरा है।" युवक ने हल्के बल के साथ कह दिया—"यहाँ मैं मजबूर हूँ।"

दीवान ने जैसे सूत्र पा लिया हो—"यही कह रहा था, मैं स्वरूप ! सोचने और फैसले की बात यही है। हमारी भी मजबूरी हो सकती है।" युवक ने आदर के भाव से उत्तर दिया—"मै समझता हूँ, जो

कर्तव्य है उसके बारे मे सोचना और फैसला करना अपने वश की बात नही रह जाती। आपको वही करना चाहिए, जो उचित है।" दीवान ने सयत भाव से तर्क किया—"तुम आजादी चाहते हो, तुम देश को आजाद करना चाहते हो। फिर तुम्हारा जमीदारी-ताल्लुकेदारी मे भी विश्वास नही होगा और तुम हमारे भी खिलाफ होगे ही! सबकी आजादी मे विश्वास जो करते हो, नही करते ?" काका अब तक चुप रहे है, उनको लगता रहा है कि सारी बात उनकी अपनी इच्छा के ही नही, शक्ति के बाहर जा रही है; पर यहाँ वह बोल उठते हैं—"नही काका, पूर्ण स्वाधीनता का भी यह मतलब तो नही है कि हमारे यहाँ साम्यवाद हो जायगा, अमीर-गरीब का भेद ही मिट जायगा। स्वाधीनता का जो मतलब हमारे नेताओ के द्वारा प्रचारित है, वह तो देशी राज्य अर्थात् शासन-सत्ता का अपने देश के हाथ मे आना है।" दीवानजी ने काका को रोका—"नही छोटे भइया, स्वरूप को उत्तर देने दो। स्वरूप, क्या तुम यह मानते हो कि देशी लोगो के हाथ मे शासन-सत्ता आ जाना ही आजादी है ? मै समझता हूँ, तुम इस प्रकार उलझे हुए विचारो के नही हो, और सचमुच ऐसी हुकूमत मे विश्वास करते होगे जो रिआया की ही हो। है न ऐसा ही ?"

युवक की मुद्रा से ही स्पष्ट है कि वह कुछ कहता नही, लेकिन यह तो सीधी बात है। काका की उद्विग्नता से लगता है कि वह इस स्थिति से भिन्न अर्थ ग्रहण कर रहे है जो प्रत्यक्ष से कही गहरा है। दीवानजी कुछ रुक कर फिर शुरू करते है—"तो स्वरूप, यह हमारी-तुम्हारी स्थितियो और मान्यताओ मे अन्तर है। हम पुरानी वज़ा के आदमी है, हमारे लिए कुछ लोग हुकूमत करने के लिए और कुछ उसमे रहने के लिए पैदा होते है। तुम ऐसा नही मानते और इस बात मे हम एक-दूसरे से बिल्कुल अलग है।" कुछ देर रुकने से युवक को लगता है, दाऊजी को उसके उत्तर की प्रतीक्षा है। उसने स्वीकार किया—"आप ठीक कह रहे है, इस विषय मे हमारी पीढियो मे यह अन्तर तो है ही।

परन्तु···!" दीवान ने तुरन्त पुन· बातचीत के सूत्र को ग्रहण कर लिया—"तब अपने अहद के अनुसार हमको अपने रास्ते अलग कर लेने चाहिए।" काका चौक पडते है—"दीवान काका, आप क्या कहते है! मेरा मतलब यह कभी नही था। क्या इस प्रकार आप स्वरूप को उसके अधिकार से वचित रखना चाहते है?" दीवान ने दृढ वाणी मे कह दिया—"वचित करने का सवाल कहाँ उठता है? जहाँ अधिकार माना ही न जाय, वहाँ उससे अलग करने का क्या मतलब हो सकता है! छोटे भइया, तुम पूरी बात समझ नही सके हो!"

युवक मौन है और काका चुप है। दीवान फिर शुरू करते है—"मेरा कहना है कि यह जरूरी है, हमको ऐसी स्थिति मे अलग हो जाना चाहिए। दोनो के लिए यही हितकर है। स्वरूप इसे मानता नही, और हम रियासत छोड नही सकते है। यह हमारा हक है, बाप-दादो की विरासत है। तुम्हारे लिए ही नही, स्वरूप और राजलक्ष्मी के लिए; तुम सब की आगे आने वाली सतानो के लिए भी ज़रूरी है, छोटे भइया!" काका विचलित लगते है—"दीवान काका, तुम क्या समझते हो, यह आपका ज़माना आगे बहुत दिन चलने वाला है? सच पूछो तो काका, जिस ज़माने के तुम हो, बडे और छोटे सरकार रहे है और एक हद तक भइया को भी माना जा सकता है, वह हमारे जैसे लोगो के साथ ही बीत चुका है। तुम लोग जिन आदर्शों, मान्यताओ और मर्यादाओ पर चलते आये हो, हम उनको त्याग चुके है। हम अधिकारो का तो भोग करते है, उसकी परम्परा को निभाते है; पर उसकी आन, मर्यादा और दायित्व को निरर्थक मान कर छोड चुके है। हमारे पास जमीन-जायदाद है, रियासत-ज़मीदारी है, पर हम उससे और अपनी रिआया की जिन्दगी से कट चुके है।"

दीवान ने काका के भावावेश को रोकते हुए कहा—"भइया, तुम लोगो की बाते समझ पाना मेरे लिए दिक्कततलब होता जा रहा है। मैं बूढा आदमी हूँ, पुराने खयालात का हूँ। मेरे लिए अपनी लीक पर

चलना ही आसान है । गवर्नर का हवाला देकर उस दिन जो कलेक्टर ने कहा था, तुम से ही बात हो रही थी, वह मैं ज्यादा साफ ढग से समझ सका हूँ ।" काका अपने को रोक नही पा रहे है—"कलेक्टर को क्या अधिकार है ! कानूनन्, जब तक हम कोई ऐसा काम नही करते जो सरकार के नियमो के खिलाफ हो, उनको हम पर कोई दवाब डालने का क्या मतलब हो सकता है ? काका, मैं इस बात को आगे बढाना चाहता हूँ ।" दीवान ने छोटे ठाकुर की मन स्थिति के ठीक बिन्दु को पकडा—"इतना मै समझ पाता हूँ , यह राज्य हमारी आजादी के बजाय हमारे हक को किसी भी तरह कायम रखने मे मदद करने के लिए है । मुझे यह महसूस न होता हो कि हमने वजूद को कायम रखने के लिए अपनी आजादी दूसरो को सौप दी है, ऐसा नही है । यह भी समझता हूँ कि हक का सच्चा एहसास आजादी के साथ होता है । लेकिन अब यह मजबूरी है, अपने-आप को बनाये रखने के लिए इस स्थिति से समझौता करके चलना ही पडेगा ।" छोटे ठाकुर को जैसे तर्क मिला हो—"पर जब वह सब नही रहा, तब यह मजबूरी का समझौता भी कब तक चलेगा ?" दीवान—"अपने-आपको बनाये रखने के लिए जब तक चल सके ।" "···लेकिन अब यह सब निरर्थक हो चुका है ।" "···मै अपने को, अपनी स्थिति को बनाये रखने को ही अहमियत देता हूँ । वैसे क्या है, जो अपना अर्थ एक दिन खो नही देता ?"

वह रात के ग्यारह बजे अपने कमरे मे बैठा काम कर रहा है, काम बहुत है और उसे अधिवेशन मे जाने से पहले पूरा करना भी है । अधिवेशन के बाद क्या होगा, वह कुछ नही जानता । पर उसे आभास है कि घर वापस आना नही हो सकेगा । उसके मन मे अन्य चिन्ताएँ भी हैं, काका को लेकर और राजलक्ष्मी के बारे मे । दीवान ने सब कागज-पत्र ठीक कर लिए है, मसविदा भी तैयार है । अब उत्तराधिकार छोडने के लिए उसे केवल हस्ताक्षर करना है । उसे इस बात को लेकर

दुःख, चिन्ता या खेद कुछ भी नही है, वरन् मन मे कही त्याग का उत्साह ही है, पर इसी को लेकर काका अशान्त है। उन्होने दीवान काका से कहा भी कि फिर यह रियासत भोगेगा कौन ? किस के लिए हम सबको यह करना होगा ? एक तो वह यही नही मानना चाहते कि सरकार स्वरूप को इस दृष्टि से देख सकती है जिससे उसके हक पर आँच आये या सरकार ऐसा करना चाहेगी अथवा सरकार ऐसा कर भी सकती है ! दूसरी ओर दीवान काका भी दृढ और अडिग है कि इस बार वे अपने सिद्धान्त से हट नही सकते, जब तक कि उन्हे ही कोई उनकी जगह से हटा न दे। छोटे काका के लिए यह अकल्पनीय बात है। कुछ भी हो, पर काका को हटायेगा कौन !

युवक को लगा कि कोई दरवाज़ा थपथपा रहा है। काम करते हुए अनजाने ही उसने कह दिया—"आइये !" फिर उसने देखा कि काका आये है, वह सकुचित हुआ। उसने उनकी ओर देखा और कार्य स्थगित हो गया। काका आकर कुर्सी की पीठ पकड कर खडे हो जाते है। वह उनकी ओर एक क्षण देखता रहता है, फिर दृष्टि नीची कर लेता है। काका धीरे-धीरे कहते है—"स्वरूप, तुम समझ रहे हो ?" उसने दृष्टि उठाते हुए पूछा—'क्या काका ?" "··यही जो मैं कहता हूँ, दीवान काका समझ नही पाते, शायद उनके लिए आसान भी नही है।" "···लेकिन काका, यह बहुत साधारण बात है। दीवान दाऊ जिस ढग से सोचते है, उसमे मुझे कोई हानि तो लगती नही।" "···यह तुम्हारा अपने को ही केन्द्र मे रख कर सोचने का ढग भी खूब है ! बात तुम्हारी नही, मेरी है, मै क्या सोचता हूँ या अनुभव करता हूँ ?" काका की वाणी के क्षोभ के सम्मुख युवक मौन रहता है। "मैं कहता हूँ कि या तो सब बचे या सब जाय, हर क्षण कण-कण टूटने की अपेक्षा एकाएक आमूल नष्ट हो जाना, पूरा का पूरा ध्वस्त हो जाना कही अच्छा है।" सँभलते हुए युवक ने कहा—"सम्पूर्ण नष्ट हुए बिना क्या चलेगा ही नही ?" काका के स्वर मे निश्चय है—"अपग

सस्कृति और बैसाखी लगा कर चलने वाले लोगो मे मेरा विश्वास नही है, स्वरूप !"

टहलते हुए काका कह रहे है—"काका के अनुसार तुमको और राज को अलग कर देने पर हम आप अपने ढग से रहने के लिए मुक्त हो सकते है और तुम्हारे तथा आगे आने वाली सतानो के अधिकारो की रक्षा भी इस प्रकार हो जायगी , पर इसमे काका का एक भ्रम छिपा है कि यह बवडर क्षणिक है और तूफान निकल जाने के बाद सब पहले जैसा ही हो जायगा। लेकिन स्वरूप, मैं समझ रहा हूँ, देख रहा हूँ कि मैने ही काका के युग की भूमि छोड दी है, हमने पूर्वजो के अधिकार और उनको बनाये रहने की परम्परा तो ग्रहण की है, पर उनके आदर्शों, मर्यादाओ, दायित्वो का त्याग किया है।" काका एक रैक पकड कर खडे हो जाते है, जैसे अपने विचारो को सयत करने का प्रयत्न कर रहे हो। वह उनको सहारा देने के भाव से कह देता है—"काका, तुम अधिकारो को ही क्यो नही छोड सकते ?" उनको आगे बढने का सहारा मिला—"छोड सकता हूँ, पर यह छोड कर रहूँगा कैसे ? अपने को बनाये रखने के लिए क्या आधार रहेगा ? इस छोडने के लिए फिर अपने-आप को छोड देने के अतिरिक्त चारा क्या रह जायेगा ? यह आत्मघात-जैसा कठिन है, स्वरूप !" युवक ने पुनः आधार दिया—"आत्मघात श्रेयस्कर भी नही होता, लेकिन काका, अपना दायित्व नये सिरे से विकसित या निर्धारित भी किया जा सकता है।"

एक क्षण चुप रह कर काका ने किसी गहरे भाव से कहा—"यही विश्वास मुझ मे नही है। मैं नही मान पाता कि टूटे बिना कुछ भी नया बन सकता है। मैं अपने, अपनी स्थिति के बारे मे सोचता भी नही हूँ। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ जो दीवान काका अपनी पुरानी स्थिति के कारण ही देख पाने मे असमर्थ है। जमाना बदलेगा, बदल रहा है और यह किसी प्रकार रुक नही सकता। अपनी मान्यता को, अपने आदर्शो को और अपनी आस्था को हम पकडे रहना चाहते है, ऐसा सदा केवल

हठवादिता से नही किया जाता। अपनी जमीन को छोड कर कितने है जो जी सकते है और निरर्थक होकर जीना भी क्या जीना है ! दीवान काका ऐसी पीढी मे आते है।" काका आगे कहने के लिए जैसे शब्द खोज रहे हो, युवक स्वीकार करता है—"दाऊजी की स्थिति मै समझ रहा हूँ, शायद वे एक वर्ग के प्रतिनिधि है।" काका की वाणी फूट निकलती है—"स्वरूप, आज तुम जो भी समझते हो, पर एक दिन इस वर्ग की स्थिति को, भावना को, अधिक स्पष्टता से समझ सकोगे, मुझसे अधिक। मेरी स्थिति अलग है, इस वर्ग का होकर भी मै इसकी भाव-भूमि से अलग हट चुका हुं। और तुम इस पीढी से विद्रोह करके भी भावभूमि मे और परम्परा की दृष्टि से उससे जुडे हुए हो। ऐसा नही है ? तुम्हारे मूल्य और आदर्श ...!" युवक के लिए यह नयी बात है, उसे समझने मे कठिनाई होती है।

एकाएक काका को जैसे कुछ याद आ गया हो, वे मेज के सामने की कुरसी पर बैठ जाते है—"स्वरूप, मै तुमसे कुछ कहने आया था !" युवक को सकोच होता है, काका अभी तक कह ही रहे थे। वह काका की ओर जिज्ञासा के भाव से देखता हुआ चुप है। उसे मालूम है कि जब काका कुछ कहना चाहते है, तो उसे किस प्रकार लिया जाता है। वह चुप रहता है, काका मेज पर दोनो हाथ जमाकर कहना शुरू करते हैं—"तुमको मालूम है, तुम्हारे पीछे पुलिस है ? मुझे दाबा जा रहा है, लेकिन तुमको लेकर फिलहाल ज्यादा परेशानी नही है। मैने कह दिया है लडका मेरे कहने मे नही है, वह अपने बिचारो मे स्वाधीन है। वह यदि जनता के बीच कुछ करता है और उसका यह करना सरकार की निगाह मे गैरकानूनी है, तो उसके खिलाफ़ कार्रवाही करनी चाहिए। वे अपना केस बनाते रहें, यदि बना ही लिया तो तुमने सोच लिया होगा।" युवक काका की स्पष्ट दृष्टि से प्रभावित होता है—"काका, चिन्ता न करें, मैं परिणाम झेलने के लिए तैयार हूँ। पर मै सोचता हूँ, दीवान जी की बात मान लेनी चाहिए।" काका कुछ उद्विग्न है—"यही कह

रहा हूँ कि तुम्हारी चिन्ता मै नही करता। रही दीवान काका की बात, मै खोना नही चाहता, पर बचाने का भी मेरा किंचित् भी आग्रह नही है। · ···लेकिन बात राजलक्ष्मी की है, उसकी गिरफ्तारी का वारट है, वह फरार है। सी० आई० डी० घर का चक्कर लगाती रहती है, एक प्रकार से हम पर पुलिस का पहरा है।"

युवक ने सयत भाव से प्रश्न किया—"पर काका, राजे है कहाँ ? यहाँ उसकी खोज करने से पुलिस को मिलेगा क्या ?" काका के मुख पर मन की उद्विग्नता के बीच भी मुस्कान आ गई—"पुलिस भोली नही है। राजे यही है और लगभग एक सप्ताह से।" युवक के मुख से आश्चर्य से निकल गया—"अच्छा, इतने दिनो से !" काका उसकी बात पर ध्यान दिये बिना कह रहे है— 'और जानते हो, उसकी रक्षा का सारा प्रबन्ध दीवान काका का है। विश्वास हो रहा है ?" युवक आँखे खोल कर देखता रहता है। ऐसा नही कि उसे विश्वास नही हो रहा है, वरन् ऐसा लगता है कि वह पहले ही इस बात को क्यो नही समझ सका। दाऊजी ने इस बश का क्या क्या नही छिपाया और निभाया है ! उन्होने ऐसी स्थिति या प्रसग मे कभी आगा-पीछा नही सोचा, उनके सामने उद्देश्य कभी अस्पष्ट रहा ही नही। मालिक लोगो का मामला है, तो दीवानजी को उसे निपटाना ही है, किसी भी तरह !

काका ने इस बीच बात के सूत्र को ग्रहण किया—"लेकिन यह आगे चल नही पा रहा है। इसलिए नही कि काका की कार्यशैली असफल हो गई है, वरन् राजलक्ष्मी को बाँध पाना असम्भव होता जा है। तुम्हारी बात और है, जिस रास्ते तुम चल रहे हो, उसपर चल जाता है, बहुत कुछ निभ जाता है। पर राजे समझौता करके चलने के रास्ते पर नही है, यही नहीं उसे तो झगडते-लडते रहना ही है। उसे सब कुछ तोडना है, चाहे सरकार का नियत्रण हो या दीवान काका का सरक्षण।" युवक चिन्ता की मुद्रा मे कह देता है—"काका, यह तोडने के लिए तोडना, लडने के लिए लडना राज के क्रान्तिकारी सिद्धान्त के

अन्तर्गत आता है, उनको समझाना सम्भव नही है। यह एक भावावेश की स्थिति है जिसमे परिणाम की अपेक्षा उसकी सक्रियता को सार्थक मान लिया जाता है।" काका उसके इस विश्लेषण से अस्थिर हो जाते है—"नही-नही स्वरूप, राज के सिद्धान्त से मुझे बहस नही है। रही समझाने की बात, वह किसी को सम्भव नही है, क्या तुम समझ पाते हो ? मै तो समझ कर भी समझ नही पाता। सवाल है कि राजलक्ष्मी यहाँ मे जायेगी ही और जाने मे खतरा है। दीवान काका की सीमा के बाहर मामला चला जाने के बाद क्या हो सकेगा ? उस पर कई अभियोग है, एक बार सरकार के चगुल मे आने के बाद कहा नही जा सकता, उसका क्या होगा ?"

युवक ने काका की आन्तरिक अस्थिरता को लक्ष्य करके सयम के स्वर मे कहा—"राज जीजी को इसका अन्दाज़ होना चाहिए और दायित्व वहन करने के लिए तत्पर भी।" काका फिर बीच मे कह उठते है—"अन्दाज न होने पर भी सब कुछ झेल जाना उसके लिए कठिन नही है। स्वरूप, तुम समझ नही सकते। यह तुम दोनो के लिए जितना आसान है, मेरे लिए नही।" युवक काका की ठीक मनःस्थिति को पकड नही पा रहा है, वह उनको किस प्रकार आश्रय दे—"हम जो कुछ कर सकते है, उसके आगे चिन्ता करना…!" काका ने उसकी ओर गहरे भाव से देखते हुए कहा—"आगे चिन्ता करना व्यर्थ है, यही न ! व्यर्थ होने पर भी बहुत-सा हमको करना पडता है, करने के लिए हम विवश है। कह देने भर से चलता नही।" युवक फिर अपनी बात को सहारा देता है—"लेकिन काका, राज ने आग्रहपूर्वक एक गलत रास्ता पकड रखा है, फिर उसका क्या हो सकता है ? पथभ्रष्ट आवेश और निरीह हत्याओं का दायित्व कौन लेगा ? इस विषय मे सरकार के पास भी क्या उपाय है ?" काका का स्वर बदला हुआ है—"यह तुम्हारा तर्क है, वैसा ही जैसा दीवान काका तुम्हारे आन्दोलन के बारे मे देते है। जब कानून मे कोई बाधा देगा तो सरकार क्या करे ? सच बात है कि हमारे लिए

तुम दोनो एक-से ही हो, समान रूप से खतरनाक और चिन्ता के विषय ! उसी जमीन को खोदना चाहते हो जिस पर खडे हो, उसी डाल को काटना चाहते हो जिस पर बैठे हो, और उसी परम्परा को तोडना चाहते हो जिसमे पूरी तरह सम्बद्ध हो। तरीके अलग होने से क्या होता है ?"

"साधन पर बहुत कुछ निर्भर करता है काका, आप नही मानते ? हमारा रास्ता निर्माण का है, हम सारे देश को लेकर चलना चाहते है।" एक क्षण चुप रह कर काका धीरे-धीरे शुरू करते है—"तुम हमारी विलासिता को देखते आये हो, तुम देखते हो काका ह्विस्की, शेम्पेन और ब्राडी मे डूबे रहते है, तुमने मुझे न जाने कितनी तरह की स्त्रियों के साथ और सम्पर्क मे देखा होगा, इसमे सकुचित होने की बात नही, मैं जहाँ जी रहा हूँ वहाँ यह सब आदमी को छूना नही, मेरी हॉर्सरेसेज़, पोलो, हवाई यात्राओ, शिकारो, यूरोप की वहाँ के रात्रि-क्लबो मे डुबोने वाली यात्राओ से भी तुम अपरिचित नही हो। तुम्हारे बाबा तक हमारी वश-परम्परा जिन मर्यादाओ पर खडी रही है, उन्हे अपना मान कर गर्व का अनुभव करती रही है, और बडे भइया ने जिसकी प्रतिष्ठा को प्राण देकर निबाहा है, तुम्हारे और राज के विद्रोह के पहले ही मै उससे कट कर अलग हो चुका हूँ। मैं मूल्यो को छोड कर उनकी स्थिति को अधिक से अधिक जीने की कोशिश कर रहा हूँ। मैं यह अनुभव सहज ही कर रहा हूँ कि ये मूल्य बीत चुके है, और इन निरर्थक मूल्यो से चिपके रहना व्यर्थ है।"

काका फिर चुप हो जाते है, लगता है, वे कही बहुत स्पष्ट अनुभव कर रहे है, पर उसको व्यक्त करना उनके लिए आसान नही है। बहुत सँभाल कर ही कह पा रहे है—"सब है, लेकिन मैं कही सोचने की कोशिश करता हूँ। मुझे लगता है कि राज फिर ठीक है और तुम गलत हो ! कह नही सकता ऐसा क्यो है ! वह मेरे आगे के विकास-क्रम मे आकर भी मुझसे सम्बद्ध है, और तुम अपनी समस्त निर्माण तथा समन्वय की

भावना के बावजूद ऐसे मूल्यों पर प्रतिष्ठित लगते हो जो बीत चुके है, व्यर्थ हो चुके है।"

इसी समय किसी की छाया का आभास मिलता है, काका आवाज देकर उसे अन्दर बुला लेते है—"क्या खबर है परागू ?" उस काइयाँ-से काका के निजी नौकर ने सूचना दी—"हजूर, सुपरूडेण्ट साहब आवा है।" काका मे खिचाव आ गया है—"फिर ?" परागू ने धीरे से कहा—"यही बखत तलासी लेइ का कहत है।" खिचाव बढ गया है—"तुमने कहा नही ?"—"कहा सरकार, लेकिन उन कहिन कि मै ठाकुर साहब से सीधे बात करूँगा।" काका ने आवेश के स्वर मे कहा—"जाओ परागू, कह दो, इस समय ठाकुर साहब से मुलाकात नही हो सकती, सुबह आने पर बात कर सकेगे।" परागू खडा रहता है, काका तेज स्वर मे आज्ञा देते है—"जाओ, मैंने सोच लिया है।" इसके आगे परागू को वहाँ ठहरने का साहस नही हो सकता था। युवक ने कहना चाहा—"लेकिन काका ।" काका ने बीच मे रोक कर कहा, "लेकिन कुछ नही स्वरूप ! तुम समझते हो, काका बचा कर चलते है. काका अपने ऐशो-आराम के लिए सब सहते है, अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए समझौता करते है, पर ऐसा नही है ; कुछ बचाना नही है, इसलिए समझौते का भी सवाल नही है। बस, जो है, उसे जी रहे है, हमारे पास कुछ भी नही है जिसे लेकर खडा हुआ जा सकता हो ! इसलिए बचाना और खोना, दोनो हमारे लिए समान है !"

परागू ने आकर खबर दी कि सुपरिटेण्डेण्ट कुछ सूचना पाकर खुद जा चुके थे, काका कुछ उद्विग्न और उत्सुक चले जाते है।

मोटर पचास-साठ के बीच की रफ्तार से दौड रही है। सडक खेतो के विस्तार मे फैली है, पर केवल मोटर की सर्चलाइट की सीमा-रेखा तक उसके काले समतल प्रसार को देखा जा सकता है। काका के हाथ मे व्हील है, पर इस स्पीड में भी इस सुनसान सडक पर उन्हे सतुलन

के लिए अतिरिक्त श्रम नही करना पड रहा है। बगल मे बैठा हुआ युवक सुन रहा है, पर वे जैसे अपने ही आप से कहते है—"उस कुत्ते को अभी पकडता हूँ, गया ही कितना होगा! लेकिन उसे यह खबर मिली कैसे ?" युवक अपनी उत्सुकता को रोक नही पा रहा है—"क्या ?" अन्यमनस्क भाव से ही काका उत्तर देते हैं—"यही राजलक्ष्मी की पिपलौद स्टेशन पर तूफान पकडने की।" युवक को समझने का जैसे सूत्र मिल गया हो—"अच्छा!" काका सडक के एक गहरे मोड को सँभालते हुए पूछ लेते है—"क्या ?" युवक प्रकृतिस्थ होकर कहता है—"मै नही जानता था।"

अब सडक एक विरल जगली रास्ते मे प्रवेश कर चुकी है। सन्नाटा अधिक बढ गया है, मोटर की गति का आभास अधिक हो रहा है। काका के मन मे खीझ है—"अब हम पुलिस की गाडी को मिनटो मे पकडे लेते है।" युवक ने स्थिति को ग्रहण न कर पाने के कारण अनिश्चित भाव से प्रश्न किया—"पर हम करेगे क्या ?" उसी समय सामने दूर पर एक मोटर चमकने लगी, जो तेजी से समीप आती जा रही है। काका ने उसकी बात पर जैसे ध्यान ही न दिया हो। उन्होने एक्सीलेटर को और भी दबाते हुए आज्ञा के स्वर मे केवल इतना कहा—"परागू!" उसने क्षण भर बाद पाया कि उनकी मोटर आगे बढ चुकी है, दो फायर जगल के आकाश मे गूँज उठे है और पुलिस की गाडी वही फिसफिसा कर रुक गई है।

एक मिनट मे उनकी मोटर घटनास्थल को काफी पीछे छोड चुकी है और अब काका ने पुन. आज्ञा के स्वर मे कहा—"परागू, आगे!" पीछे की सीट से परागू ने तत्परता से उत्तर दिया—"हाँ, सरकार!" "क्या कहते हो ?"—"हमारी तौ यहिन राय है कि सेगरामऊ के हाल्ट पै गाडिन का रोका जाय, फिन आप जस कहय!" निश्चय के भाव के साथ काका ने स्वीकृति दी—"अच्छा तो आज यही सही! पिपलौद अब भी यहाँ से बीस मील है, तूफान वहाँ एक-पन्द्रह पर पहुंचेगा। हम उससे

बहुत पहले पहुच सकते है । पर इस प्रकार मेल को रोक कर चढना सन्देह दिला सकता है ।" परागू ने तत्परता से कहा—"फिकर नही सरकार, गुमटीवाला खास अपना आदमी है । एक मिनट रोकने का मामला तो हइन हे, आगे बिटिया क लइके थरड क्लास माँ धसब हमार काम है ।"

मोटर जगल के टुकडे को पार कर मैदान मे फिर दौड रही है और बीस मील की दूरी सर-सर पार होती जा रही है । इतना रास्ता तय करने के बाद काका स्थिर है—"स्वरूप, तुम यह गलत समझते हो ?" वह अब तक सब देखते हुए चकित बैठे रहे है, किंचित् प्रकृतिस्थ होने का प्रयत्न करते हुए उत्तर देता हे—"आप लोगो की स्थिति अलग है, पर मैं राज जीजी को गलत मानता हूँ, उनका यह रास्ता कही ले जायगा, मुझे सन्देह है ।" काका ने व्यग्रता से कहा—"रास्ते के बारे मे निश्चित कोई नही कह सकता, चलना और आगे बढना—यही जाना जा सकता है और मै समझता हूँ इतना है इम रास्ते मे । लेकिन तुम्हारा रास्ता आदर्श और इतिहास की ऐसी अन्धी गलियो मे भटक गया है कि उसमे जितना भी चलते जाओगे, उतना ही भटक जाने का एहसास होता जायगा ।" युवक व्यग्र होकर कह उठता है—"आप नही मानते कि यह आन्दोलन आगे बढा है और बढता जा रहा है । हमारा आगे बढने का रास्ता अधी गलियो मे भटकता किस आधार पर आप मानते है ?" काका ने तटस्थ गम्भीरता से उत्तर दिया—"कोई तर्क नही है मेरे पास, पर यह लगता है । जैसे तुम चल रहे हो, उससे बदलना नही हो पाता; और बिना बदले नया कुछ बन पाता है, इसमे मुझे शक है ।" मोटर की समरस गति से बातचीत मे निश्चिन्तता आ गई है । दोनो ओर फैले खेत पीछे खिसकते चले जा रहे है और इधर-उधर बिखरे हुए पेड पीछे भागते जा रहे है, पर आकाश के तारे अपने स्थान पर टिमटिमा रहे हैं ।

आगे के क्षणो में पुनः एक घटना घटित होती है । सामने से एक

कार आती लगती है, फिर उसकी लाइट दिखायी देती है। भिन्न दिशाओं मे जाने वाली दोनो गाडियाँ धीमी होकर अगल-बगल रुक जाती हैं। काका मोटर से उतर कर दीवानजी के पास जाते है। दीवानजी से कुछ देर काका की बात-चीत हुई और फिर दीवानजी की कार उस दिशा मे मुड गई और अब दोनो एक ओर ही दौड रही है। युवक के मन मे तीव्र उत्सुकता है, राजे कहाँ है ! दीवानजी इधर कैसे आ रहे थे और पुनः सब लोग कहाँ जा रहे है ! एकाएक काका ने परागू से कहा—"परागू, चलो यह भी ठीक है।" परागू सरकार के पीछे रहने के कारण बातचीत का आभास पा चुका है—"पर सरकार, बिटिया पसिंजर पर अकेलिऐ चली गई ?" काका ने परागू के इस प्रसग और चिन्ता की उपेक्षा करते हुए कह दिया—"जकशन पर मेल बदलने के समय उसका साथी मिल जायगा। पर परागू, अग्रेजी सरकार को बदलने का दम भरने वाली राजेश को तुम बिटहिनी ही मानते रहोगे ?" परागू ने असमजस मे कह दिया—"हाँ सरकार !"

पिपलौद से पाँच मील पहले ही उनकी कारे एक दूसरी सडक पर मुड गई और उन्होन मुख्य सडक छोड दी। युवक के लिए सारी परिस्थिति प्रारम्भ से बहुत स्पष्ट नही रही है, वह घटना के साथ वस्तु-स्थिति का अन्दाजा लगा पाता है और एक स्थिति पर पहुँच कर आगे के लिए वह पुनः अनिश्चित और अस्पष्ट हो जाता है। उसने काका से प्रश्न किया—"अब ?" काका ने उत्तर दे दिया—"राजेश की चिन्ता से हम मुक्त हैं और हमको सौ मील का चक्कर काट कर पहुँचना होगा, उस कुत्ते को डॉज देना है।" युवक ने किसी क्लेश से कहा—"काका, सुपरिण्टेण्डेण्ट का अपना कर्तव्य है, इसमे उसका अपना क्या है ?" काका ने एक पहाड़ी के पार्श्व से मोड लेते हुए हँस कर उत्तर दिया—"स्वरूप, समझते हो ! वह मुझे नीचा दिखाना चाहता है और सरकार को खुश करने की कोशिश मे है।" युवक सोचने लगता है कि यह उसके कर्त्तव्य से अलग कैसे हो सकता है !

मोटर जगल की शिकार खेलने की सडको पर घूमती हुई चक्कर काट कर आगे बढ रही है। काका के हाथ के स्टीयरिग व्हील के साथ मोटर की गति, उसकी मशीन की आवाज, आकाश के नक्षत्र, दोनो ओर पीछे सरकने वाली वृक्षो की राशि, कभी-कभी दूर पर आभासित होने वाली पहाडी घाटियाँ और पीछे से चली आने वाली मोटर की सधी हुई आवाज सब जैसे सन्तुलित हो गई है। युवक बगल मे काका की उपस्थिति का अनुभव करता हुआ आकाश, जगल और दूर की घाटियो पर दृष्टि डालता हुआ अपने-आप का अनुभव करना चाहता है। इस सब मे वह कहाँ है !

पिपलौद स्टेशन पर ट्रेन खडी है, युवक अपने कम्पार्टमेण्ट के सोते तथा ऊँघते यात्रियो से तटस्थ दरवाजे के हैण्डिल के सहारे, फैले हुए प्लेटफार्म को शून्य दृष्टि से देख रहा है। एकाएक उसने देखा कि कोई एक व्यक्ति ट्रेन पर किसी को खोजता हुआ उसी की ओर बढ रहा है। निकट आने पर वह चौक-सा पड़ा—"काका !" काका आकर चुपचाप खडे हो जाते है और वह उतर कर चरण-स्पर्श करता है। काका के पीछे छाया के समान परागू भी है। काका ने अपने अन्दर को रोक कर कहा—"स्वरूप, तुम समझते हो ?" युवक का मन भर आया है—"काका, आप कहेगे ? अपने स्वरूप को काका ने जितना और जैसा जाना है, उसमे यह शामिल नही है क्या ?" काका ने अपने को छिपाने के भाव से बात बदलनी चाही—"लेकिन इस रात चालीस मील का रास्ता पारकर यहाँ आने का कुछ और भी सबब है।" युवक उत्सुकता और कौतूहल के साथ प्रतीक्षा करता है।

मूल बात को छिपाने का प्रयत्न करते हुए काका कहते है—"मै जानता हूँ कि जमाना वहाँ पहुँच चुका है, जहाँ से उसका बदलना अनिवार्य हो जाता है। बल्कि यह कहना चाहिए कि बदलाव का चक्र

शुरू हो गया है। तुम मुझे देखते हो ?" काका चुप हो जाते है, युवक देखता है, काका सदा की तरह आज भी है। वह क्या कहे ! काका ने उसके असमजस को ताडा—"ऐसे नही, मेरी ज़िन्दगी को देखो ! दीवान काका की जमीन मजबूत है, वे परम्परा के साथ अटूट और दृढ खडे है। वे सब कुछ नकार कर अपने-आपके सहारे खडे रह सकते है। पर मुझ मे वह विश्वास कहाँ है ! मैं किसके सहारे खडा हो सकूगा ! परम्परा के साथ जुडा जरूर हूँ, पर उससे बँधे रहने से मुझे अर्थ नही मिलता। फिर सारी भाग-दौड, साज-समान, भोग-विलास, ऊपर से लगने वाली गति मेरी स्थिति को निरर्थक बनाने से रोक नही पाते। इस सबके बावजूद मै अपनी परम्परा को पुन ग्रहण नही कर सकता, उस पर प्रतिष्ठित नही हो सकता !"

युवक के कुछ कह पाने के पूर्व काका फिर शुरू कर देते है—"मैं जानता हूँ, तुम कहोगे यह मै जान-बूझ कर झेलता क्यो हूँ। ··नया अर्थ खोज सकता हूँ। लेकिन स्वरूप, यह ऐसा होता नही। इस परिणित से बचा नही जा सकता। इसके बचने के प्रयत्न मे तोडने-फोडने की, सब कुछ नष्ट कर देने की, विद्रोह और इन्कलाब की एक दूसरी निरर्थक स्थिति को झेलना पडेगा। राजलक्ष्मी की क्रान्ति को तुम क्या मानते हो ?" युवक काका के मौन से उबर कर कह देता है—"लेकिन एक और रास्ता हो सकता है, निर्माण, शान्ति और समन्वय का।" काका चौक कर पुनः अपने प्रवाह मे बहने लगते है—"नही स्वरूप, यही तुम्हारा भ्रम है ! तुम जहाँ हो ठीक हो, तुम जिस रास्ते पर हो वह भी ठीक मान लूँगा ; पर यह नही कि तुम युग को नया मूल्य दे सकोगे। परम्परा से समझौता करने वाले निर्माण के नाम पर पुरानो को नया का आभास जरूर दे पाते है।"

युवक बल लगा कर कहता है—"यह आभास ही है, यह कैसे माना जाय ? फिर परम्परा से सम्बद्ध मूल्य अधिक व्यापक और निर्माणात्मक हो सकते है।" काका ने बात समाप्त करने के भाव से शुरू किया—

"बहस नही करता स्वरूप, तर्क मेरे पास है भी नही, पर लगता है यह जो मै जी रहा हूँ, या जो राजे झेल रही है, कही अर्थहीन होकर भी जीने योग्य, झेलने योग्य हो सकता है, पर तुम्हारे सारे मूल्य युग की गति के लिए भारी अड़चन है। और जब कभी इसका अनुभव तुम कर सकोगे, तब देखोगे, यह व्यर्थ हुए मूल्यो की भारी लाश है। फिर इसका ढोना विवशता हो जायगी।"

दूसरी ओर की ट्रेन आ चुकी है, उसकी इक्का-दुक्का सवारी चढ चुकी है और अब युवक की ट्रेन ने सीटी दे दी है। गार्ड ने हरी रोशनी दिखा दी है। काका ने लगभग धकेल कर युवक को कम्पार्टमेण्ट मे चढा दिया है और वह दरवाजे का हैण्डिल पकडे खडा है। काका उद्विग्न हो उठे है, उन्होने एक बैग निकाल कर उसकी ओर बढाते हुए आग्रह के स्वर मे कहा—"देखो स्वरूप, सब ठीक है, चलने दो! पर यह तुमको मानना पडेगा, और आगे भी यह प्रबन्ध स्वीकार करना होगा, इसके बारे मे काका तर्क नही सुनेगे।"

ट्रेन सीटा देती हुई आगे खिसकने लगी है, युवक के सामने काका खडे है और उसे लगता है, उनके साथ उनके जीवन की समस्त तर्कहीन व्यजना है। पास ही परागू खडा है, उसने इस चेष्टा मे हाथ जोड लिए है कि 'काम लायक समझेउ तो हमउक याद करेउ, भइया!' धीरे-धीरे प्लेटफार्म खिसकता हुआ पीछे छूट रहा है और उसके साथ ही काका, उनकी व्यजना और छाया ओझल होते जा रहे है।

बॉय ने सामने से प्याला और प्लेट उठायी, युवक का ध्यान उस ओर गया। लगा उठना चाहिए, पर अभी बिल देना है। साथी इस बीच अनमना रहा है, कोई चर्चा हो नही पाई। किसी विषय पर जम नही सके। आज दोनो के बीच खिचाव मिट नही सका, बातचीत ऊपरी ढग से कई बार चल कर आसपास की मेजो की ध्वनियों मे खो गई।

अब कुछ ही लोग मेजो पर जमे है, अतः ध्वनियो के वृत्त अधिक स्पष्ट है और उनकी टकराहट मे सुस्थिरता आ गई है।

दाहिनी ओर की पीछे वाली मेज से आवाजे सुनायी दे रही हैं। —"यही आजादी है ?"—"क्या खाक है ! हाँ राजा-महाराजा, जमीदार-ताल्लुकेदार मिट गए है।"—"यह भी तो कुछ हुआ, मानना पडेगा।" —"हुआ क्यो नही, जूते चटखाने वाले लोग राज कर रहे है !"—"यह भी कोई जमाना है ? सामने हाथ जोड़ते है, पीछे छुरी चलाते है, गला काटते है।"—"और एक वह भी था जब लोगो मे आन-बान थी, लोग अपनी बात पर मर मिटते थे।"—"पलानपुर के राजा को ही ले लो।"—"दूर क्यो जाते हो, अपने बडे ठाकुर को ही लो, खाली बात ही तो थी।" "भाई खूब हो, लोगो का कहना तो यह है कि दोनो के बीच······।" —"सो तो कुछ होगा ही, जर-जमीन-औरत, कुछ तो होगा ही। पर सवाल आन का था।"

"छोटे ठाकुर के बारे मे भी तो सुना गया था।"—"अरे हाँ, लगता तो था कि वह औरत-शराब के पीछे ही रहता है। पर इगलिस्तान मे अग्रेज पर गोली चलाना ऐसा-वैसा काम नही है।"—"तो तुम क्या जानते हो, उसने बडे-बडे अफसरो को नाक रगडा दी थी। कहते है वह क्रान्तिकारियो से मिला था।"—"हटाओ भी, किसकी चलाई है। अपने भतीजे-भतीजी का हक उसने ऐयाशी मे उडा दिया।"—"जानते भी हो, उस दीवान की चाल समझने के लिए अरस्तू चाहिए।"—"क्या समझते हो भइया, ऐसे ही मिनिस्टर होगे ? बूढे की क्या सूझ थी !"

लगता है कि दूसरी मेज की उखडी हुई भीड के कुछ लोग उस मेज पर आ गए है और उन्होने चलती हुई बातचीत के सूत्र पकड लिए है—"लेकिन अब मामला ठप है।"—"कौन सा?"—"यही तुम्हारे भइया जी का।"—"क्या मतलब है ?"—"छोडना पड रहा है, बैठ नही रही है।"—"तुम क्या जानते हो, मामला कुछ और है ?"—"क्या?"—"वही कैबिनेट के अन्दर-बाहर का।"—"भाई, यह तो खाली जर-जमीन हुआ।"

"फिर ?"—"फिर क्या, इसके साथ औरत जोडनी पडेगी।"—"मतलब यह कि वह शामिल फैक्टर है।"—"इस्लाह के बाद मान सकता हूँ। नया जमाना है, फैक्टर को यो रख लो—औरत प्लस मर्द, मर्द प्लस औरत !" मेज पर हँसी फूट पडती है।

अधेड बेयरा ने उसके सामने बिल लाकर रख दिया है और उसको वस्तुस्थिति का अनुभव होता है। उसने पर्स निकालते हुए कह दिया—"चलना चाहिए।" साथी ने जैसे स्वीकृति दी और उठ कर खडा हो गया। बाजार से होकर वापस जाते उसने देखा, अब यहाँ बिजली की रोशनी आ गई है, ऊँचे खम्भो पर लगे बल्बो से हल्का प्रकाश फैला हुआ है, पर बाजार की कुछ ही दूकानो मे बिजली का खिलता हुआ प्रकाश है। बाकी मे अब भी साधारण लैम्पो की रोशनी है, सडक के ठेलो पर पैट्रो-मेक्स जल रहे है। वह इस तरह की कई रोशनियो के बीच से निकलता हुआ भी किसी से उन्मुख नही हो पाता है। बाजार की हलचल अब सुस्थिर हो गई है, ऐसा नही कि लोग सडको या दूकानो पर नही है, पर कस्बे के चारो ओर फैले हुए अन्धकार के आतक के कारण जैसे अपने इस सीमित प्रकाश मे सहमे हुए है। इस पहाडी कस्बे की चारो ओर की श्रेणियाँ और उन पर फैले हुए जगलो में अँधेरा ऐसा सघन हो गया है कि इस कस्बे की सारी रोशनी बँधी हुई, शकित और आक्रान्त जान पडती है।

फिर वह गली मे होकर वापस लौटता है, गली मे अंधेरा आकाश के तारो के नीचे एक धारा मे फैला है जिसके दोनो तटो पर रोशनियाँ टिमटिमा रही है। एक-दो आदमी पास से गुजर जाते है, कही कोई कुत्ता भूँक उठता है, इधर-उधर का कोई दरवाजा खुलता या बन्द होता है, पर यह सब स्थिर और शिथिल घटित भी उसके अस्तित्व को सम्मि-लित नही कर पाता। रास्ते पर ऊपर चढते हुए वह मुड कर कस्बे पर दृष्टि डाल लेता है। अधकार और हल्के शीत के आतक से कस्बे का

जीवन जैसे सकुचित हो गया है। ऊपर के बँगलो मे कुछ के सामने बिजली का हल्का बल्ब टिमटिमा रहा है। वह ऊपर चढता जा रहा है और उसे लगता है साथ चलने वाला बेहद उदास है।

बँगले के अन्दर प्रवेश करते ही उसे बूढे की आँखो मे प्रतीक्षा के भाव का आभास मिल जाता है, फिर वह वस्तु-स्थिति का हल्का अनुभव करता है। वह अकेला कमरे मे प्रवेश कर देखता है कि सब कुछ ठीक ढंग से लगा हुआ हे। उसने लम्बा कोट उतार कर एक ओर टाँग दिया और एक हल्की चादर कधो पर डाल ली है। कमरे मे नीले बल्ब का हल्का प्रकाश फैल रहा है। पलग के बगल मे एक आरामकुर्सी और एक छोटी मेज पडी है। उसी पर एक टेबल-लैम्प भी है, जिससे चाहने पर पढा जा सके। यह आज से वर्षो पहले भी ऐसा ही था। वह इस कमरे से, इसके वातावरण से सम्बद्ध होकर भी असम्वद्ध रह जाता है, क्योंकि अतीत को वर्तमान से बाँधने की उसकी चेतना समाप्त हो गई है।

वह आरामकुर्सी पर बैठा है और पैर मेज़ पर रख लिए है। इससे अधिक रोशनी चाहने पर लैम्प का स्विच ऑन कर सकता है, पर तैरते रहने के लिए इतनी ही पर्याप्त है। उसका अपना अस्तित्व फैल कर हल्का हो गया है। वह कुछ पढना नही चाहता, इच्छा करने की चेष्टा उसमे नही है। वह आहट ले रहा है, किसी की प्रतीक्षा मे है। किस की ? यह स्पष्ट नही है। वह समझ रहा है कि कोई आकर यहाँ उसके सामने बैठेगा, कुछ देर दोनो मौन रहेगे, बातचीत नही होगी। फिर एक तीसरा आकर बातचीत शुरू करेगा और उनका मौन भग हो जायगा, उनकी बातचीत शुरू हो जायगी। इसमे उसकी उदासी, थकान और निष्क्रियता मिट जायगी।

वह बैठा है और बूढा आकर खडा हो जाता है, वह समझ लेता है कि रात के भोजन के लिए जाना चाहिए। पर वह यहाँ से उठना नही चाहता, चल रही बातचीत से मुक्त नही हो पा रहा है। वह तीसरे आने वाले को उठने नही देना चाहता, प्रवाह जो गतिशील हो उठा है, उसे

रुकने नही देगा। बूढे ने एक क्षरण मे स्थिति समझ ली है और वह वापस चला जाता है। थोडी ही देर मे प्रौढा स्त्री उसके सामने वही खाना लगा रही है, बूढा सहायता कर रहा है। फिर सब खाने और बातचीत करने मे सलग्न है।

वह पलग पर लेटा हुआ है, बगल की मेज पर रखे हुए लैम्प का प्रकाश शेड से उसके सामने केन्द्रित हो रहा है। पीछे लगे तकिये से वह किचित् तिरछा होकर सामने की पुस्तक पर झुक गया है। कुछ देर से प्रौढा स्त्री उसके सामने की कुर्सी पर बैठी रही है। उसने कुछ पूछा है और युवक ने उत्तर भी दिये है, पर उनमे लगाव का अनुभव नही कर पाता। इतना ही एहसास उसे हो पाता है कि कभी यह सब उसका अश रहा है, पर इस स्मृति मे आज उसकी कोई सम्पृक्ति नही है। यह जो सामने बैठी रही है, अपनी ममता, आसक्ति, चिन्ता और आत्मीयता के बावजूद उसी अश के साथ उससे विच्छिन्न है। यह क्या है जो इतना अपना है, पर आज के अनुभव का अश नही है! और जब अलग है, तब अलग हो भी क्यो नही पाता ?

इसी बँगले मे दोनो बैठे है। राजलक्ष्मी का कमरा है, उसने सामने की मेज पर मुट्ठिया बाँध रखी है। वह उत्तेजित है। उसके मुख पर अस्वाभाविक दीप्ति है, वैसे वह क्षीरण और दुर्बल है। न जाने कितनी बार उसने राज का प्रतिवाद किया है, जोरशोर से बहस की है, पर आज उसके सामने हतप्रभ है। आक्रमरण जैसे भाव से वह पूछती है—"तुम अब भी सही मानते हो ?" वह सँभालने के स्वर मे उत्तर देता है—"राज, तुम आज की स्थिति को लेती हो।"—"इस स्थिति को तुम अस्वीकार कर दोगे ?"—"अस्वीकार करने का सवाल नही उठता है।" "फिर मेरे प्रश्न का तुम्हे उत्तर देना होगा ; बचा जाने से नही चल सकेगा।"

एक क्षण दोनो चुप रहते है, फिर राज अस्थिर हो उठती है—"स्वरूप, तुम सोच रहे हो ? उत्तर दे सकोगे ?" उसने बात के क्रम को आगे बढाते हुए कहा—"स्थिति का उत्तर उसके विश्लेषण से ही मिल सकेगा।"—"यही तुम्हारी परम्परावादी दकियानूसी पद्धति है। विश्लेषण से कारण मिल सकते है, और वे भी ऐसे सूत्र जिनको कितने ही मनमाने क्रम मे रख कर परस्पर-विरोधी निष्कर्ष निकालना कठिन नही होता है।" युवक ने अपनी स्थिति की रक्षा के भाव से कहा—"पर इसके अलावा और चारा भी क्या है ?"—"चारा ! चारा है, रहा है। स्थिति की चुनौती स्वीकार कर लेना, उसे झेल लेना, फेस कर जाना।" वह किंचित् आश्चर्य से कह उठता है—"यह तो तुम अपनी पुरानी स्थिति को आज पुन. बेहतर स्वीकार कर रही हो ?"

राजलक्ष्मी चुप रहती है, जैसे कुछ कहने के लिए निर्णय कर रही हो—"लेकिन स्वरूप, तुम यह नही कह सकते कि मैने जब तुम्हारा रास्ता अपनाया था, तो उसे पूर्णत. अपनाया या झेला नही है"—"तभी मै यह कह पाता हूँ।" राजेश को अपनी बात कहने मे जैसे बहुत बल पड रहा हो—"एक बार मैने मान लिया था, नही कह सकती क्यो ! तुम्हारा तर्क भी, पर केवल यह इतना नही था। इसके पीछे उस व्यक्तित्व का व्यामोह शायद अधिक था।"—"पर क्या तुम मानती हो उस व्यक्तित्व के पीछे तर्क नही था, केवल भावावेग था।"—"इसके बिना इतने विरोधी, असगत, रूढिवादी और प्रतिगामी तत्त्वो को एक साथ एक शक्ति के रूप मे सगठित दिखा पाने का भ्रम सम्भव कैसे हो सकता था ?"

युवक कुछ खिन्न होता है—"तो इस सतुलन और सामंजस्य के पीछे कोई वास्तविक मूल्य या दृष्टि नही थी ?"—"क्यो नही, पर वे निर्जीव, विजडित और निष्क्रिय हो चुके थे।"—"और उनसे भावावेग उत्पन्न किया जा सका ?" कुछ रुककर उत्तर देती है—"कुहासा, रहस्य, पूजा, श्रद्धा, परम्परा और पुराण से ही भावावेग उत्पन्न किया भी जा सकता

है ।" वह किंचित् उत्तेजना का अनुभव करता है—"फिर तुम सत्याग्रह, सत्यान्वेषण और सत्यनिष्ठा को भी स्वीकार नही करोगी ?" उसने तेजी से उत्तर दिया—"जो प्रतिष्ठित है, वह परम्परा और रूढि से बँधा सत्य है जिसके आग्रह मे पूर्वग्रह , अन्वेषण मे पत्थर का देवता और निष्ठा मे परम्परा की अन्ध-पूजा ही हाथ लगती है ।"

इसी बीच पेमन कक्कू ने आकर चाय लगा दी है । केतली से भाप निकलती रही है, पर किसी ने चाय ढालने का उपक्रम नही किया । किसी ने मेज पर लगे सामान मे हाथ नही लगाया । कक्कू ने इस बीच एक-दो बार आकर देखा भी, पर वे बातचीत मे डूबे है । फिर मेज की एक तरफ की खाली कुर्सी पर आकर आया बैठ जाती है और प्यालो में चाय ढालती हुई कह देती है—"लक्ष्मी बिटिया, तुम्हारा जी ठीक नही है । डाक्टर जोशी ने तुम्हे मना किया है न ।" राज का ध्यान आया की ओर जाता है—"क्या आया ?" शात स्वर मे आया समझाने के भाव से कहती है—"यही मेहनत करने से ।" राज हँस देती है—"आया, मै कुछ भी तो नही करती ।" आया ने दोनो की ओर चाय का प्याला बढाते हुए कहा—"पेमन कक्कू तो कह रहे थे कि तुम दोनो देर से झगड रहे हो ।" युवक भी हँस पडा—"कक्कू भी खूब है आया, हम लोग तो बात-चीत कर रहे थे ।" आया सहज ही खाने की प्लेट दोनों को देते हुए बात समझा देती है—"वही मै कह रही थी कि बिटिया का शरीर ठीक नही चल रहा है, डा० जोशी ने पूरी तरह आराम की सलाह दी है ।"

पहाडी पार कर दोनो झील के किनारे आ गए है । झील के एक ओर पहाडी का पार्श्व है और दूसरी ओर बाझ और चीड के दरख्त है । दोनो इसी किनारे पर टहल रहे है । राजलक्ष्मी की चाल में थकान है, पर दोनो ही इस बात का अनुभव नही कर पा रहे है । युवक चारो ओर की प्रकृति के प्रति तटस्थ है—"राज, आज सुबह तुम राजधानी से लौटी हो, तुम्हारा स्वास्थ्य भी ठीक नही है ?" राज ने सामने के पहाडी ढाल

पर दृष्टि डालते हुए बिना किसी पकड के कह दिया—"स्वरूप तुम, पूछना चाहते हो कि आज ही इतना चल और लाँघ कर इस घाटी और झील के किनारे आना क्यो था ?" वह चुप रह जाता है। राज फिर कहना शुरू करती है—"यह सवाल उठ सकता है। यहाँ आकर मेरे मन मे भी आ रहा है कि मै इतनी भावुक और रोमाण्टिक क्यो हो उठी हूँ ?" युवक समझ रहा है कि राज कही से विचलित है, वह चाहता है कि उसे आश्रय दे—"नही, यह भी हो सकता है कि तुम्हारा मन और शरीर इतना थक गया है और यहाँ तुम्हे शान्ति मिल सके, यह जगह है भी सुन्दर।"

उसने युवक की ओर देख कर जैसे अपनी बात पर बल देना चाहा हो—"देखो स्वरूप, जो है उसे मान लेना ही होगा। बचते रहने, समझौता करने और सतुलन बनाये रहने के मोह का क्या परिणाम होता है, यही देख कर आ रही हूँ। तुम कार्यकारिणी से इस्तीफा दे सकते हो, चुनावो से विमुख हो सकते हो, और चाहो तो राजनीति से अलग भी हो सकते हो; पर यह सब करने के बावजूद देश के इस यथार्थ से छुटकारा कैसे पा सकोगे ? इस भावना से क्या तुम सहज ही मुक्त हो सकते हो कि देश को इस स्थिति मे, सही या गलत, लाने मे तुम्हारा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। मैं समझ रही हूँ, अभी तुम अपने भ्रम को कई तरह के आधार पर पाले रहना चाहते हो—देश सहस्रो वर्षो से पराधीन रहा है, हमारा देश गरीब रहा है, अभी स्वाधीनता को मिले ही कितने दिन हुए है · ।" युवक अपनी स्थिति को सँभालने की दृष्टि से कहता है—"लेकिन क्या यह ऐसा नही है ?"

झील के सिरे पर सूरज झुकता जा रहा है, छायाएँ लम्बी हो रही है। उनके सामने का आकाश लाल है। एक पेड की छाया दूसरे पेड को छूकर आगे बढ जाती है, पर दूसरा पेड अपनी छाया के विस्तार से उसकी छाया के आगे निकल जाता है। झील मे आकाश के रगो की प्रतिच्छाया है। दोनो झील के किनारे पेडो की एक छाया से दूसरी छाया

पर बढते जा रहे है। युवती ने जैसे किसी गहरे भाव को व्यक्त करना चाहा हो—"स्वरूप, जानते हो इस बार का मेरा लौटना वापस न जाने के लिए है। तुमने देखा है कि मै सदा भावुक रही हूँ, मैने जब क्रान्ति को मूल्य माना था और बाद मे सत्य-अहिंसा को भी जब अपनाया था, तब भावावेश मे ही सब ग्रहण करती रही हूँ। पर आज देखती हूँ, भावावेश मे आदमी जिन मूल्यो के सहारे आगे बढना है, वे यथार्थ के अस्वीकरण पर प्रतिष्ठित होते है।"

युवक झील के चमकते हुए विस्तार के साथ श्रेणी के वृक्षो की सघनता को देखता हुआ चुप है। वह समझना चाहता है कि राज क्या कह रही है। राज जो कहना चाहती है, उसे वह कोई निश्चित क्रम नही दे पा रही है—"विभाजन के समय के घटित को हमने तथ्य और सत्य दोनो रूपो मे लगभग एक साथ समान रूप मे झेला और भोगा था। तुम स्वीकार न भी करो, पर मै मानती हूँ उस मथन ने पहला भयानक प्रहार हमारी आस्था पर किया था। फिर उसके बाद वह करुण या ट्रेजिग भी नही लगा, उसमे हीरोइक भाव कहाँ था ? जो था वह केवल विवशता या अवशता !" युवक ने स्थिति को अपने पक्ष मे करने की दृष्टि से प्रश्न किया—"पर राज जीजी, उसे तुम एक विशिष्ट परिस्थिति नही मानोगी ?" युवती के उत्तर मे तत्परता है—"उस आघात के समय शायद ऐसा ही सोचा हो, पर आज नही। वह उस स्तर पर मूल्यो की सहज परिणति ही थी।"—"इतना बडा आन्दोलन कुछ नही था ?"—"यह मै नही कहती। पर उससे सम्बद्ध ही वह था, और वह भी। फिर इस सबको भी उससे अलग करके नही देखा जा सकता।"

झील के किनारे एक शिला पर दोनो बैठे है। उनके पार्श्व मे सूरज डूबने की दिशा है। सूरज झुकता जा रहा है। छायाएँ लम्बी होती जा रही है। युवक झील के जल पर बनने वाले वृत्तो से आश्रय लेकर कहता है—"राज, तुम वर्तमान से बहुत घिरी हो; तुम्हारा स्वास्थ्य भी ठीक नही चल रहा है।" युवती ने एक पत्थर जल मे फेक कर उत्तर

दिया—"अब तक केवल भविष्य मे दृष्टि लगाये रही हूँ, अब पहली बार जब वर्तमान को देखती हूँ तो लगता है भयानक यथार्थ से टकरा रही हूँ।" युवक आश्वासन के स्वर मे अपनी बात बढाने का उपक्रम करता है—"लेकिन यह आज का वर्तमान कितना भी भयानक क्यो न हो, पर इसका भी एक भविष्य है।" राज की वाणी मे अस्थिरता है—"वर्तमान अतीत पर आधारित है और भविष्य की सम्भावनाओ की ओर उन्मुख है, यह बहुत सुन चुकी हूँ। बहुत हुआ, अब मेरे सामने वर्तमान अनिर्भर यथार्थ है, वह कितना भी कठोर और कुरूप क्यो न हो, पर उसके ग्रहण करने से कही अधिक भयानक है उससे आज तक का पलायन।"

घाटी के एक सिरे पर सूरज नीचे गिर रहा है और सारा वातावरण गुलाबी प्रकाश से भर गया है। झील उसको प्रतिबिम्बित कर चमक उठी है। दोनो बैठे है, उनके सामने की श्रेणी के उठते चले गए चीड और बाझ स्थिर और धुँधले हो रहे हैं। फिर एकाएक युवती बोल उठती है—"स्वरूप, तुम्हे नही लगता है कि सब टूट रहा है, अपना अर्थ खो रहा है?" युवक स्वीकार के स्वर मे कहता है—"हाँ, जो बहुत अपना और आत्मीय था, वह टूट कर बिखर गया है राज जीजी, पर शायद यह मूल्यो की सक्रान्ति है; इस टूटने और बिखरने के बाद कुछ जुडना-बनना शुरू होगा, यह भी सोचा जा सकता है।" युवती मे उद्वेग है—"स्वरूप, तुम यथार्थ से अब भी बचना चाहते हो। यह बनना और बिखरना हमारा घटित हो सकता है, पर युग मे उन मूल्यो के प्रति यह चेतना भी है? वह सारा आवेग तूफान, सैलाब और ज्वार के समान न जाने कहाँ विलीन हो चुका है, उसका एहसास भी किसी को है? यह तुम राजधानी मे साफ देख सकते हो।"

युवक ने अपने को सँभालने का पुन. प्रयत्न किया—"पर राज, सारा देश राजधानी नही है, न ही हो सकता है।" उसने तत्परता से उत्तर दिया—"वहाँ सारा देश सिमटता आ रहा है और कल वही से अर्थात् केन्द्र से सारे देश का नया नकशा उभरता नज़र आयेगा।" युवक

को अपनी बात पर बल देना पड रहा है—"राजधानी रग बदल सकती है, रूप धारण कर सकती है, आधुनिकता का अनुकरण कर सकती है, पर यह देश अलग है, इसकी आत्मा, सस्कार और परम्परा अलग है और उस व्यक्तित्व ने उसे पहचाना था।" युवती किंचित् उत्तेजित है—"स्वरूप, यही तुम्हारा सस्कार और परम्परा का आत्मनिष्ठ देश है जिसने उस क्रूर, नृशस और अमानुषिक को न जाने किन मूल्यो के बल पर झेला है और फिर पूर्णाहुति के रूप मे ····।" युवक ने तर्क देना चाहा—"लेकिन इस पूर्णाहुति से देश को युग दृष्टि भी मिल सकती है !"

वह हाथ का सहारा लेकर चट्टान से उठ जाती है—"तुम देखना नही चाहते, या देखकर भी अनजान बने रहना चाहते हो, तो उपाय क्या है ! लेकिन मैं पूछना चाहती हूँ, तुम राजधानी और उस सारे वातावरण से भागते क्यो हो ? फेस करने की जगह कटते क्यो जाते हो ? मै तो आज आयी हूँ, कल तक तो मैं वही थी। अतिन को अन्तिम दाँव पर लगा कर ही आयी हूँ।" पच्छिम मे सूरज के स्थान पर अब केवल लालिमा है, घाटी उस लाली से प्रवाहित है और सामने के शिखरो से सघन होती छायाएँ उतर रही है। युवक को लगता है कि वह जो अब तक जानना चाहता था, उसका प्रसग आ गया है—"अतिन्द्र का क्या हुआ ?" आगे बढते हुए युवती ने सहज भाव से कहना चाहा—"देश की माँग है, इसलिए अतिन बाबू को समझौता मान कर चलना होगा। स्वरूप, देख रहे हो ! तब जो विद्रोह और क्रान्ति को अपने-आप में मूल्य मानकर चलने पर विश्वास करता था, वह आज समझौता को मूल्य मान रहा है !"

झील के किनारे आगे बढ़ते हुए युवक ने सघनता से प्रश्न किया—"और तुम क्या सोचती हो ?" कुछ देर वह चुप रहती है, वह गहराई का अनुभव करना चाहता है—"तुम ठीक भी नही हो राज !" एकाएक उसकी वाणी का वेग खुल जाता है—"मैं···मैं क्या सोचती हूँ !

सोचने वाले देश को जीवन के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करना चाहते है और इसके लिए विशाल अट्टालिकाओ, राजभवनो, होटलो, नृत्यशालाओ और मत्रीगृहो की योजनाएँ बना रहे है। राजधानी के आदर्श पर ही तो देश का जीवन ऊँचा उठ सकेगा। इस सबके लिए हमारे नेताओ को लँगोटी और झोपडी का पिछला अभ्यास छोडना पड रहा है। और मजे की बात है कि जड मत्र की तरह इस सबके प्रारम्भ मे उसका नाम ले लिया जाता है जो सारे देश को नीव पर उठाना चाहता था।" युवक बोल उठता है—"मै भी देखता हूँ, इस सबके साथ चल पाना सहज भी नही है। लेकिन यह भी एक रास्ता हो सकता है, यह मानता हूँ। और आशा करता हूँ कि अपना मार्ग भी खोज सकूँगा। राज जीजी, तुम शरीर और मन दोनो से बहुत थक चुकी हो, तुम्हे कम्पलीट रेस्ट चाहिए।"

गहरे भाव से युवती कह रही है—"मै थक ही नही टूट चुकी हूँ, जर्जर हो चुकी हूँ, स्वरूप, तन और मन दोनो से। मेरे मन मे और हृदय मे घाव हो चुके है। तुम शायद समझ नही सकते, मेरा यह टूटना कितना निरर्थक और सारहीन है! किसी आस्था के साथ कण-कण नष्ट हो जाना सहा जा सकता है, पर यह आस्थाहीन टूटते जाना भयानक शून्य जैसा लग रहा है। अनास्था का भी सहारा होता है, पर यह तो वह भी नही है, छूछे मूल्यो पर टिकी हुई आस्था!"

अब दोनो अँधेरी होती घाटी से निकल कर दूसरी ओर उतर रहे है। घाटी अकेली और सूनी है, वे मौन चले जा रहे है।

कमरे मे लैम्प का मद्धिम प्रकाश फैला हुआ है। लग रहा है कि कमरे मे वह ठिठुर गया है। वह सिरहाने बैठा है, युवती लेटी हुई है। वह थुलमे से ढकी है, केवल मुँह खुला है। चेहरे पर बेचैनी के चिह्न प्रतिबिम्बित है। वह जैसे सघर्ष कर रही हो। युवक के समीप कई पुस्तकें

है, विवश भाव से वह समझ नही पा रहा है कि उसे क्या करना है। पुस्तको की भी सहायता उसने ली है, वह केवल सघर्ष झेलने का साक्षी है। एकाएक युवती ने आँखे खोली—"स्वरूप, खिडकियाँ खोल दो, मुझे उलझन लग रही है।" वह आँखो मे कुछ पढना चाहता है,—"राज, बाहर ठडक बहुत है!" उसने पीडा के आवेग को झेलते हुए उसकी ओर देखा, "मै अन्दर जल रही हूँ, स्वरूप! मुझे ठडी हवा ही चाहिए।" दृष्टि सह पाना कठिन है, उसने उठकर एक पल्ला खोल दिया, हवा के एक कँपाने वाले झोके से कमरा भर जाता है। उसके उद्दीप्त चेहरे और आकुल आँखो से लग रहा है कि अन्दर ही अन्दर वह बहुत तीखा और असह्य झेल रही है। युवक अपने-आप को रोक कर पूछ लेता है—"जीजी, बहुत तकलीफ है?" दृष्टि उसकी ओर फेरती हुई कह देती है—"शरीर की है, सह रही हूँ। शायद झेल जाना कठिन न होता, पर इसका क्या करूँ? मन के ढहते हुए कगारो को सह पाना आसान नही है।" कुछ देर चुप रह कर अपने को एकत्र करती है—"खोई हुई जिन्दगी जैसे विषधर के रूप में फुंकार उठी है, सारी निष्फल कामनाएँ असख्य विषदंशों से हृदय को छेद रही हैं।"

हवा का झोका आकर तन-मन को कँपा देता है, वह अपने रैपर को चारो ओर से कस लेता है। युवती गहरी साँस लेकर हवा की ठडक को अन्दर खीचना चाहती है, उसने थुलमा को वक्ष तक खिसका कर हाथ ऊपर कर लिए है। वह उसे देखता है, अस्थिपंजर-शेष राजलक्ष्मी का मुख भर चमक रहा है। वह सोचता है, यही वह राज जीजी है! उसे याद आता है। जब वह किशोर था, माँ ने अकस्मात् प्रश्न किया था—"स्वरूप, तुमको सबसे अधिक प्यारा कौन लगता है?" उसके मन मे इस विषय मे जैसे तर्क उठता ही नही—"राज जीजी; क्यो माँ?" शायद माँ जो सुनना चाहती थी, यह वह नहीं था; पर उन्होने भाव को छिपा कर फिर पूछा—"जीजी तो तुम्हे पीटती भी है, डाँटती भी है।" उसने सहज ही उत्तर दे दिया—"इससे क्या! जीजी मुझे बहुत अच्छी

लगती है।" तब माँ ने मुस्करा कर कहा था—"और मै ?" इस पर वह लज्जित होकर कह देता है—"तुम तो हो ही; तुम्हारी और बात है !"

उसे याद आती जा रही है। राज सदा स्वस्थ, सुन्दर और सजीव रही है। पिता की अपेक्षा वह काका की फेवरिट रही है, काका उसको गुडिया की तरह अनेक सज्जाओं से आभूषित रखते थे। माँ के विरोध के बावजूद उनकी चलती भी थी। उसकी अपेक्षा राज जीजी गतिशील और सजीव अधिक थी, उसे काका की रुचि-सम्पन्नता प्रिय भी थी। पिता को जितना गर्व अपने वश और अपनी परम्परा पर था, काका को उतना ही गर्व अपनी भतीजी की सुन्दरता और प्रतिभा पर था। आगे राज की सुन्दरता, चचलता और उसका स्वास्थ्य जीवन की कठोरता और परुषता से आच्छादित होता गया, पर प्रतिभा का प्रकाश उसके व्यक्तित्व मे सदा व्यजित रहा है।

वह याद कर रहा है। उससे आकर्षित हो जाना आसान है, पर आकर्षित करना कठिन है। उसके व्यक्तित्व का लोहा मान कर उसके साथ चला जा सकता है, पर वह आरोप नही सहती। कठोरता और दृढता के साथ वह स्थितियो से अपने को अलग कर लेती है और व्यक्तियो को अपने रास्ते से हटा सकती है। उसमे जीवन के आकर्षणो को अस्वीकारने की प्रवृत्ति कभी नही रही, वह काका के समान सब कुछ भोगने और ग्रहण करने के पक्ष मे रही है। यहाँ उससे अपना अन्तर भी वह समझता रहा है। लेकिन जब उसे त्यागना पडा है, छोडने का अवसर आया है, तो भोगने की आसक्ति के साथ ही उसे भी उसने स्वीकार लिया है।

वही युवती सुन्दरी राजलक्ष्मी उसके सामने लेटी हुई है। वह कह रही है कि शरीर की व्यथा को झेला भी जा सकता है, पर मन के इस दशन का क्या करे ! वह पीडा और वेदना की लहरो को काटती हुई उसकी ओर देख रही है, समझती है, युवक कुछ सोचने लगा है—"स्वरूप, सोच रहे हो ?" वह चौक पडता है—"समझने की कोशिश कर

रहा हूँ।"—"मेरे दर्द को ?"—"लेकिन राज, तुम्हारी स्थिति में अपने को रख पाना मेरे लिए कठिन रहा है।"—"पर तुम मानोगे कि मेरे लिए स्वरूप को समझना कठिन नही रहा है।" उसके मन मे कुछ उमडने जैसा लगता है, वह मौन रहता है। अपने को किसी प्रकार सयत कर वह कहना शुरू करती है—"मुझे आज ऐसा एहसास हो रहा है कि मेरे लिए वही अच्छा होता !"

हवा के झोके के साथ खिडकी के दोनो पल्ले खुल गए, वह जाकर पल्लो को इस प्रकार ठीक करता है कि हवा नियन्त्रित हो सके। फिर खड़ा होकर बाहर देखता है, आकाश खुला है, तारे आकाश मे ठण्डी हवा के झोको से कॉप रहे हैं। कस्बा बिल्कुल खामोश है, किसी आतक ने उसे दबा रखा है। दूसरी ओर के पहाडी ढालों के वृक्ष-समूह काली छाया मे हिल रहे है। सारे सूनेपन मे एक अस्थिरता व्याप्त है। वह वापस आकर लैम्प की बत्ती ठीक करता है, कमरे की रोशनी बढ जाती है। फिर वह राज के पास बिस्तर पर ही बैठ जाता है। देखता है, उसे साँस लेने मे कष्ट हो रहा है—"तकलीफ बढ रही है ?" उसने अपने को सँभाल कर कहा—"क्या बढ सकती है ?" वह समझ लेता है और उठ कर अलमारी से शीशी निकाल कर गिलास मे कुछ उँडेलता है, उसमे पानी मिला कर घोल तैयार करता है। सिरहाने खडे होकर पुकारता है—"राज !" वह तटस्थ-भाव से हाथ बढा देती है—"क्या होगा स्वरूप ? इससे मेरा सघर्ष बढता ही है।"

दवा पीने के बाद युवती कुछ सहज जान पडती है, उसे अपनी पीडा को झेलने मे कम प्रयत्न करना पड रहा है। वह आकर सामने बैठ गया है—"राज जीजी, कुछ सुनोगी ; उससे शायद बल मिल सके।" वह हल्की उत्तेजना से कहती है—"क्या ? किससे बल मिल सकेगा ? तुम समझते हो अब भी मुझे बल की ज़रूरत है ! टूटने, बिखरने, छीजने मे किस बल की ज़रूरत होती है ? शरीर की व्यथा उस सीमा को पार कर चुकी है जिसके बाद अवश भाव से सब कुछ ग्रहण कर लेना होता

है।" युवक ने मेज़ पर झुकते हुए अपने को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया—"वह है, लेकिन तुम्हारा मन विचलित है, जो भयानक से भयानक परिस्थिति मे अडिग रहा है। समझ रहा हूँ, पर ··।" वह कह उठती है—"होता है, हो सकता है, मानती रही हूँ। गीता, बाइबिल, उपनिषद्, रामचरित, इमीटेशन, इनसे जो भी मिलता हो, पर वह अपनी आस्था के सहारे ही। मैं तो केवल शून्य मे, सीमाहीन शून्य मे, धँसती जा रही हूँ। यहाँ कोई आश्रय या सबल नही रह गया, सब कुछ नितान्त निरर्थक, सारहीन और अस्तित्वहीन। कैसे समझाऊँ स्वरूप! यह अनुभव कही अधिक भयानक और उत्पीडक है, शरीर की सारी वेदना से।"

लैम्प मे आकस्मिक भक्क हुआ, युवक का ध्यान उस ओर किंचित् आकर्षित हो गया। लैम्प की लौ सुस्थिर हो गई, युवक उसकी ओर पुन. एकाग्र देखने लगता है। युवती ने इशारे से उसको अपनी ओर बुलाया और उसके आश्रय से तकिया का सहारा लेकर किंचित् ऊँची और तिरछी स्थिति मे लेट गई। वह सामने पलग के समीप की कुर्सी पर बैठ जाता है। वह अपने पर नियत्रण कर धीरे-धीरे आगे बढ रही है—"लगता है स्वरूप, पहले रास्ते से यहाँ तक आकर इस निराशा से भी अधिक गहरे शून्य, व्यर्थ अवशता और मूल्यहीनता का अनुभव नही करती। यही कह रही थी।" युवक जैसे सहारा देने के भाव से ही कहता है—"लेकिन राज, आज की स्थिति को मान लेने पर भी क्या यह नही है कि उस रास्ते से हम यहाँ भी नही पहुँच सकते थे? वह तो स्वतः मूल्यहीन निरर्थक स्थिति थी जिससे किन्ही सार्थक मूल्यो तक पहुचाना सभव कैसे हो सकता था?"

उसने अपने वक्ष को दोनो हाथो से कस लिया है—"उस दिन भी मैंने यही समझा था, फिर तुम्हारे सार्थक मूल्यो की ओर बढी थी। तभी मेरी शकाओ का समाधान करते हुए योगेन दा ने कहा था—"तुम बूढे के मायाजाल से आकर्षित हो उठी हो लक्ष्मी, हम बोलता है यह कर्म की

साधना है। कर्म मे अपना निर्भर सौन्दर्ज होता है, अर्थ और उद्देश्य मूल्य माँगता है जिससे कर्म झूठा होइया जाता है। बूढा साधन और साध्य का बखेडा खडा करता है, लेकिन हम पूछता हे ई हइ किया ? उद्देश्यहीन कर्म के अलावाँ भी किछू हइ ? वह निरर्थक कहता है, सार्थक खोजता है, पर हम बोलता है ओइ टकराइगा। कर्म की निरर्थक साधना बिना कोइ विगतज्वर होइ न, राज'—स्वरूप, 'ओइ' की बात नही जानती, पर मै विगतज्वर हुए विना भयानक शून्य से टकरा रही हूँ। तभी कहती हूँ शायद वही अच्छा होता।" युवक विस्मित है—"निरर्थक कर्म की स्थिति !"

वह कमरे के हल्के प्रकाश मे चारो ओर देखती है, खोजती दृष्टि से कुछ पाना चाहती है। कमरे के शून्य मे जैसे सब गतिहीन हो। अब भी उसके हाथ वक्ष को कसे हुए है। उसकी आँखो मे आश्रयहीन पीडा की व्यजना है—"योगेन दा इसे निष्काम कर्म की स्थिति कहते थे—'लक्ष्मी, एइ फल एइ उद्देश्य, एइ प्रयोजन आर सार्थकता, एइ मूल्य किछू ना। अमार स्थिति केवल कर्म आछे। ओइ से मुक्ति ना।' स्वरूप, लग रहा है विद्रोह की सार्थकता से परे की यह स्थिति मुझे इस दारुण अभिशाप से बचा सकती थी।" वह युवती की ओर एकटक देखता रहता है, उसके मुख पर आतरिक मथन और सघर्ष के उतार-चढाव प्रतिबिम्बित हो रहे है। समझता है कि शरीर का अनुताप यह नही है, राज के अन्दर का हाहाकार उससे कही गहरा है। उसके मन का विद्रोह अपने पूरे आवेग के साथ जाग गया है। वह अनुभव करता है कि बाहर रात सूने अँधियारे में सायँ-सायँ करती हवा के साथ बह रही है, खिडकी से दिखायी देने वाले आकाश मे तारे इस शून्य मे काँप-काँप उठते है—"राज, लगता है आज दवा बिल्कुल काम नही कर रही है ?"

एकाएक उसका उद्वेग बढ गया है, वह हाथो से मुख को ढक कर सिर को वक्ष पर कस लेती है। वह स्तब्ध खडा रह जाता है। कुछ क्षणो में वह सिर ऊपर कर हाथ मुँह से हटा लेती है और उसका सिर

फिर तकिये का सहारा ले लेता है। ज्वार उतर गया, तूफान जैसे शिथिल पड गया हो—"तुम जान कर इस स्थिति को स्वीकार न करना चाहो, पर इससे मुक्ति का उपाय नही है। इस फल के भ्रम पालने से हाथ क्या लगना है! विद्रोही के लिए यह भ्रमहीन स्थिति बडी चीज़ थी, योगेदा का कहना था, 'आमार एइ विद्रोह कर्मेर सर्वश्रेष्ठ स्थिति आछे। एइ कर्मे साधन-साध्यनेर झगडा नाय, एर मध्ये फल विफल निलय होइया जाय।'—स्वरूप, क्या देश के विभाजन के समय मूल्यो की निरर्थकता के भयकर प्रकोप अथवा आज की विकसित होती भावशून्य स्थिति, दोनो मे, तुमने कभी ऐसा नही अनुभव किया ?"

वह उस की ओर देख कर उत्तर देता है—"हुआ है, मानता हूँ। पर इस सबके बीच आस्था के सहारे ही आगे बढा जा सकता है।" अपने को सँभालने के लिए वह पुनः अपने वक्ष को दोनो हाथो से कस लेती है—"यह आस्था जडता या निष्क्रियता से किस प्रकार भिन्न है ?"—"छिपी हुई चिनगारी मे जिस प्रकार आग निहित रहती है।" युवती किंचित् उत्तेजित जान पडती है—"स्वरूप, चिनगारी ज्वाला ही है, दिखायी नही देती, इसलिए वह आग नही है, यह किस तर्क से कहते हो ?" लगता है वह बहुत थक चुकी है, पीडाएँ टकरा-टकरा कर उसे आहत कर रही है, वह किसी आवेश मे अपने को साधे हुए है। युवक ने अनुभव किया और उसने यंत्रवत् दवा तैयार कर एक खुराक उसे पिला दी। फिर अपने दोनो हाथो मे उसके मुँह को लेकर धीरे से कहा—"राज, अब तुमको चुप रह कर आराम करना है!"

कुछ देर वह इसी प्रकार बैठा रहता है। वह लेटी हुई है, तकिया के सहारे तिरछी भगिमा मे। आँख बन्द किये हुए है, मुख पर उठती हुई तरगो से लग रहा है कि वह अन्दर उमडन को झेलने मे सलग्न है। वह उसके माथे पर धीरे-धीरे हाथ फेर रहा है। आकस्मिक रूप से एक हवा का झोका आकर कमरे के सारे वातावरण को आडोलित कर जाता है। लैम्प की लौ बढ कर भकभकाने लगती है, वह उठ कर

उसे ठीक करने की चेष्टा में बत्ती को ऊपर-नीचे करता है। लौ फिर स्थिर हो गई है। उसने देखा, युवती अब भी आँख बन्द किये लेटी है, वह समझ रहा है, यह मौन और शाति अन्दर के विकल सघर्ष को व्यजित कर रही है।

खिडकी पर जाकर वह खडा हो जाता है। देखता है—इस छोटी-सी घाटी मे एक कस्बा सिमिट कर सोया हुआ है और उस पर अधकार मे हवा की सायँ-सायँ के साथ शून्य मँडरा रहा है। पर घाटी के ढालो पर वृक्षो की काली छायाएँ हिल रही है, आकाश के नीले शून्य मे तारे काँप रहे है। वैसे ही खडा वह देखता रहता है, वह भीतर-बाहर ऊपर-नीचे कोई सगीत ढूँढ नही पा रहा है। इधर अपने जीवन मे उसने जितने बाँध तैयार किये थे, वे सब जैसे टूटते और गिरते जा रहे है और वह विवश और निरुपाय होकर देख रहा है। जिस यथार्थ के टकराव से बचने के लिए उसने अब तक अनेक काल्पनिक कवचो का आविष्कार किया है, राज ने उन सब को छिन्न-भिन्न कर उसको सीधे उसी कठोर निर्मम यथार्थ के सम्मुख खडा कर दिया है। वह अब टकराव का अनुभव कर रहा है और लगता है कि लहराता हुआ सागर उसके ऊपर से प्रवाहित है।

आकर युवती के पास खडा होता है। वह अब भी वैसी ही लेटी है, जैसे सारी पीडाओ, वेदनाओ और दशनो की भयकर लहरो को झेलते-झेलते शिथिल हो गई हो। वह खडा रहता है, अनिश्चय की स्थिति में। उसी समय आँख खोलती है, उसकी दृष्टि मे किसी आकाक्षा की खोज है। सकेत से युवक को अपने समीप बैठने को कहती है। वह उसके पास बैठ जाता है। दोनो एक-दूसरे को कुछ क्षण देखते रहते है। उसे लगता है राज अपने ही किसी अश को खोज रही हो, उसने इस भाव का अनुसरण करते हुए पूछा—"राज जीजी ?" उसने धीरे से कहा—"स्वरूप, तुम समझते हो मैं इस क्षण क्या सोच रही हूँ···क्या अनुभव कर रही हूँ ?" वह चुप है, कुछ देर मौन रह कर वह पुनः

कहना शुरू करती है—"अनुभव करती हूँ स्वरूप, मेरा सब विफल चला गया है। मेरा जीवन, मेरा शरीर, मेरा यौवन! सब-कुछ, सब-कुछ! मेरी सारी इच्छाएँ, वासानाएँ, कामनाएँ, आकाक्षाएँ जो निष्फल बीत गई है, आज मुझसे अपनी माँग पेश करती है। इस क्षण इन सबका खो जाना ही जैसे मेरी गहनतम अनुभूति हो गई है, जिसमे न जाने कितनी पीडाएँ और दशन डूबे हुए है।"

कुछ रुक कर उसके मस्तक पर फिरते हुए हाथ को अपने वक्ष की तीव्र धडकन पर ले जाती है—"स्वरूप, असह्य पीडा है लगता है अन्दर का शून्य फैल कर फटने वाला है•••" फिर उसकी खाली-खाली मुख की चेष्टा पर दृष्टि डालती हुई कह देती है—"एक बात कहूँ, मानोगे? मैं टकरा कर टूट रही हूँ, मुझे टकराने का नही, इस प्रकार अननुभूत अनुपलब्ध बीत जाने की मार्मिक व्यथा है। स्वरूप, किसी के सहारे, आस्था-अनास्था किसी के भी, टकरा कर टूटना भी झेला जा सकता है। पर यह स्वप्न देखना केवल शून्य को जन्म देता है, जहाँ सब कुछ भयानक दशन बन जाता है।"

कहती-कहती रुक जाती है, अन्दर से उमडता हुआ कुछ उसे डुबो लेता है। उसके हाथ को अधिक कस लेती है, कही अपने को रोकने का प्रयास कर रही हो। बेचैनी और उद्वेग से उसके मुख पर उत्तेजना है, वह आँख बन्द कर लेती है। कुछ क्षण इसी प्रकार उमडन से आक्रान्त मौन झेलती है, फिर आँख खोल कर युवक की ओर तटस्थ भाव से देखती है—"लगता है अब सब-कुछ निकट आ गया है, अन्तिम सीमा तक पहुँच गई हूँ।" युवक दोनो हाथो से उसके मुँह का स्पर्श करता है, जैसे अपने अस्तित्व का आश्रय देना चाहता हो—"जीजी!" वह बहुत धीरे कह देती है—"भइया, इस होने से, घटित से, कोई नही बच सकता। पर आज इस क्षण मै तुमसे कहती हूँ स्वरूप, इससे भागने से, अपने को अस्वीकार करने से, यही शून्य हाथ आता है; शायद जिससे टकरा कर टूटना तो होता है, पर टूटने की अनुभूति हाथ नही आती। देखो स्वरूप,

यथार्थ झेलना अधिक सरल है, उससे टकरा कर टूटने की अनुभूति को भी अपनाया जा सकता है। पर ..."

उसी समय हवा का तेज झोका सारे कमरे मे ठडी तरग के रूप मे फैल जाता है। युवती आकस्मिक रूप से उद्दीप्त होकर पुन. अन्दर के ज्वार मे डूबने लगती है। वह विचार-शून्य स्थिति मे विजडित है। लैम्प फिर भक्क-भक्क कर उठता है, वह निष्क्रिय-सा बैठा रहता है। युवती ने जैसे प्रवाह के प्रति अपने को समर्पित कर दिया हो और बहती जा रही हो। बाहर का शून्य सायँ-सायँ कर रहा है, दूर की छायाएँ हिल रही है, आकाश के तारे भी काँप रहे है और नीचे घाटी मे कस्बा सोया हुआ है। लैम्प की लौ स्थिर है।

आँख खुलने पर उसने पाया कि वह ऐसे ही सो गया था, मेज की लैम्प का प्रकाश उसके सामने पड रहा हे। पुस्तक तिरछी होकर बन्द हो गई है। उसे लगता है, सोया नही, वरन् अतीत के क्षणो को जिआ है। इस घर मे पिछले सारे दिन वह वर्तमान से कट कर जैसे अतीत मे भटकता रहा है। पर यह भटकना उसे वर्तमान की अनुभूति करा सकने मे असमर्थ है, केवल ऐसे अनुभव के बीच से वह निकलता रहा है जो उसके अस्तित्व को छू नही पाता। वह अर्थहीन जीवन से आतंकित हो कर यहाँ आया है, पर यह अननुभूत अस्तित्व मे जीने की स्थिति और भी असह्य होती जाती है।

यहाँ रह नही पायेगा; परिचित को, जिये हुए को अपरिचित रूप मे बिना किसी ससक्ति के ग्रहण कर पाना कठिन है। वह जायेगा, बिना निश्चय के कि उसे कहाँ जाना है, यहाँ से चले जाना ही है। खोये निश्चय से अनिश्चय मे रहना शायद अधिक सरल है।...वह जा रहा है, सुबह की चाय उसने अकेले पी ली है। राज, अतिन और सुनीति के बीते हुए अस्तित्वो के साथ जी नही पाता और उनसे मुक्त

भी नही हो पाता। इस अपरिचित वातावरण मे ये अपरिचित व्यक्तित्व उसे घेरे रहते है, पर अनुभूतिहीन उनका यह सम्पर्क असह्य हो गया है। न जाने कितनी असवेदित और स्पन्दनहीन सुधियाँ इस वातावरण मे उमड आई है, और इस उमडन को उसके आवेग के बिना ग्रहण कर पाना आसान नही है।

कुली मामान लेकर स्टेशन के लिए चल चुका है। वह ओवरकोट कन्धो पर डाल कर चल रहा है। वृद्ध और प्रौढा खडे उसे विदा दे रहे हैं, वे अप्रतिभ होकर भी आश्चर्य मे नही है। इस प्रकार की स्थति को एक प्रकार से वे सहज ही ले रहे है। वह चलने-चलने को है। प्रौढा अनायास ही पूछ लेती है—"स्वरूप, तुम जाओगे ?" वह उसकी ओर देख कर खोये हुए भाव से कह देता है—"क्या करूँ, आया !"

प्रौढा ने आँचल अपनी गीली आँखो से लगा लिया और वह बूढा इस स्थिति मे विमूढ हुआ खडा है। कुली नीचे उतर रहा है, वह उसके पीछे चला जा रहा है।